एक सूत्र

एक सूत्र

[ऐतिहासिक उपन्यास]

लेखक

श्रीगोविंदवल्लभ पंत

(वरमाला, संध्या-प्रदीप, राजमुकुट, प्रतिमा, तारिका, जूनिया, मदारी, नूरजहाँ, यामिनी, नौ जवान, अंगूर की बेटी, अंतःपुर का छिद्र, सुहाग-बिंदी आदि पुस्तकों के प्रणेता)

मिलने का पता—

गंगा-ग्रंथागार

३६, गौतम बुद्ध-मार्ग

लखनऊ

तीसरी बार] संवत् २०११ वि० [मूल्य ४)

प्रकाशक
श्रीदुलारेलाल
अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ

अन्य प्राप्ति-स्थान—

१. भारती (भाषा)-भवन, चर्खेवालाँ, दिल्ली
२. राष्ट्रीय प्रकाशन-मंडल, मछुआ-टोली, पटना
३. सुधा प्रकाशन भारत-आश्रम, राजाबाज़ार, लखनऊ

नोट—इनके अलावा हमारी सब पुस्तकें हिंदुस्थान-भर के सब प्रधान बुकसेलरों के यहाँ मिलती हैं। जिन बुकसेलरों के यहाँ न मिलें, उनका नाम-पता हमें लिखें। हम उनके वहाँ भी मिलने का प्रबंध करेंगे। हिंदी-सेवा में हमारा हाथ बँटाइए।

मुद्रक
परमेष्ठीदास जैन
अध्यक्ष जैनेंद्र-प्रेस
ललितपुर (उ० प्र०)

प्रेमोपहार

वक्तव्य

पंतजी के वरमाला, राजमुकुट, अंतःपुर का छिद्र, सुहाग-बिंदी, चारों नाटक हिंदी-संसार में बहुत पसंद किए गए। प्रतिमा मर्दारी, तारिका, जूनिया (उपन्यास) और संध्या-प्रदीप (कहानी-संग्रह) का भी यथेष्ट आदर हुआ। अब यह 'एक सूत्र' आपके सामने है। इसका भी अवलोकन कीजिए।

आशा है, प्रेमी पाठकों का इससे काफ़ी मनोरंजन होगा।

कवि-कुटीर, लखनऊ
१।५।४६ } दुलारेलाल

दो शब्द

[तृतीयावृत्ति पर]

पंतजी का यह उपन्यास इधर कुछ दिनों से अप्राप्य था। पाठकों की निरंतर माँग होने के कारण हम इसे फिर छाप रहे हैं। आशा है, हमारे कृपालु पाठक पूर्व की भाँति इस आवृत्ति को भी अपनाएँगे।

दिल्ली
१।७।५४ } दुलारेलाल

भूमिका

पंडित गोविंदवल्लभ पंत के जूनिया, प्रतिमा, मदारी, तारिका, वरमाला, अंतःपुर का छिद्र, राजमुकुट, सुहाग-बिंदी आदि उपन्यास और नाटक पाठकों ने पढ़े ही होंगे, किंतु 'एक सूत्र' में आप स्वर्गीय प्रेमचंदजी की भाँति मनोवैज्ञानिक तथा स्वर्गीय जयशंकर 'प्रसाद'जी की भाँति दार्शनिक बन गए हैं। हिंदी-साहित्य में 'एक सूत्र' के समान उपन्यास की रचना आज तक नहीं हुई। महाकाव्य की प्रबंधात्मकता, नाटक की गतिशीलता, कहानी की मुख्य संवेदना आदि तथ्यों का समन्वयीकरण एक स्थान पर इतने उत्तम ढंग से किसी भी उपन्यासकार ने नहीं किया। उपन्यास-कला में दक्ष पं० गोविंदवल्लभजी पंत के भी किसी अन्य उपन्यास में इतना आकर्षण नहीं, जितना 'एक सूत्र' में है। उपन्यास के सभी तथ्यों से पूर्ण यह उपन्यास एक ऐतिहासिक सत्य का प्रतिपादन करता है। वातावरण, चरित्र-चित्रण, शैली, सभी एक दूसरे के अनुगामी हैं।

वातावरण मुग़लकालीन है। मुख्य पात्र हैं—सम्राट् अकबर, दसवंत और हीरा (रागिनी)। इन तीनों का चरित्र विशेष मनन के योग्य है। आरंभ से अंत तक की घटनाएँ एक दूसरे से संबद्ध हैं—शृंखला कहीं पर भी नहीं टूटती। संपूर्ण कार्य-कलाप केवल एक दार्शनिक तत्त्व के आधार पर है—शरीर नश्वर, परंतु आत्मा अमर। उपन्यास का शीर्षक 'एक सूत्र' सार्थक क्यों है?—इसकी व्याख्या सम्राट् अकबर के शब्दों में—"सूर्योदय होने से थोड़ी देर पहले आधे स्वप्न और आधी जागृति में अकबर ने कुछ देखा। वह हर्ष से उछल पड़ा, चिल्ला उठा—अभिन्न भारत! अक्षत भारत! मैं उसकी सारी

मानवता को गूँथ लूँगा, मुझे एक सूत्र मिल गया, मैं उसकी जातियां का कलह मिटा दूँगा, मुझे एकता मिल गई। एक वाणी, एक भाषा—मनुष्य की स्वाभाविक भाषा।"

इसी विषय पर सभासदों के साथ कथोपकथन करते हुए अकबर पुनः कहते हैं—"ठीक कहा आपने। मैंने प्राप्त किया है उसे। विचार-पूर्वक सुनिए। मनुष्य की स्वाभाविक भाषा यही एक सूत्र है, जिसमें भारतवर्ष ही क्या, सारी वसुंधरा एक कुटुंब में गूँथ दी जा सकती है। मनुष्य मनुष्य के निकट हो जायगा। देश और काल की बाधाएँ उसके सामने तुच्छ होकर रह जायँगी।" सम्राट् अकबर को अपने प्रयोगों में कहाँ तक सफलता मिली? यह उत्कंठा पूरा उपन्यास समाप्त करने पर ही शांत होती है।

चित्रकार दसवंत और गायिका रागिनी का चरित्र-चित्रण सबसे अधिक नाजुक था, परंतु सफल उपन्यासकार ने इन्हीं दोनो चरित्रों को इतने मनोवैज्ञानिक और स्वाभाविक ढंग से दार्शनिक और कलात्मक रूप देकर निभाया है कि सराहना किए विना नहीं रहा जाता। संपूर्ण उपन्यास में जिस प्रकार भिन्न-भिन्न संवेदनाएँ हमारी रागात्मिका वृत्ति को रंजित करती हैं, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न दार्शनिक तथ्य हमारी तर्कना-शक्ति को जागरूक करते हैं। अंत में हृदय और मस्तिष्क, दोनो पर स्थायी प्रभाव रह जाता है।

हिंदी-साहित्य के विद्वानों, प्रेमियों तथा विश्वविद्यालयों को इस उपन्यास को शीघ्र ही अपनाकर अपनी गुणग्राहकता का परिचय अवश्य देना चाहिए।

डालमिया जैन-निवास, नई दिल्ली
५।५।४६

सावित्री दुलारेलाल

एक

करी ! फ़तहपुर सीकरी ! आगरे से तेईस मील एक सघन वन की तम से भरी एक गुफा ! शेख़ सलीम चिश्ती की साधना ! तानसेन, दसवंत और फ़ैज़ी-बंधु की कल्पना, अकबर की प्रभुता और उसके आगे नत-विनत शत-सहस्र मज़दूर, शिल्पी और स्थापत्य के विशारद !

कहते हैं, इतने आकार और इतने विस्तार की पुरी, समय की वैसी दूरी पर, जगत् के ज्ञात इतिहास में दूसरी कहीं नहीं उभरी। सही-सही तीनो परिमाणों को भीतर देखकर मानो धरातल पर द्रष्टा चित्रकार की तूलिका नाच गई, और जादू का शिला-स्वप्न तैयार हो गया !

बीहड़ जंगल था वहाँ एक दिन। विषैले पशु, भूखे तस्कर और भूत-प्रेतों से निडर वह साधक सिंह की गुफा में न-जाने किस ध्यान को पाल रहा था। साधक मुसलमान और समाधि पर हिंदू स्थापत्य के अवयव—बगवादी के लिये एक विस्मय है यह !

केवल एक एकांत-प्रिय मनुष्य, उसकी परिक्रमा करने लगा एक प्रतापी राजा, जिसके साथ हो लिए अनेक कलाकार;

नियामक, शासक, सेनापति और कुछ चाटुकार। उन्हें घेरकर बैठ गई एक दिन तीन लाख की आबादी, और उनके हाथों में आने लगा तीस करोड़ के जीवन-मरण का सूत्र। भारत की प्रत्येक पुरी और पत्तन से बनने लगे उस सीकरी के लिये मार्ग।

उस भयानक वन की बाधाओं का सामना करते हुए एक दिन उस महान् अकबर ने खोज ही ली उस मुसलमान तपस्वी की गुफा।

"अकेले ही क्यों आए तुम ?" साधु ने पहला प्रश्न किया।

"सुना था, महात्माजी भीड़ पसंद नहीं करते। अकेले ही दर्शन मिलते हैं, नहीं तो गुफा का भी कहीं पता नहीं चलता।"

"जीवन प्रिय नहीं है ? शेर नहीं मिला मार्ग में तुझे अकबर !"

"अकबर !" अज्ञात नाम उस अपरिचित महात्मा के मुख से सुनकर उस नरपति के तो होश ही उड़ गए। उस साधक के नंगे और रूखे चरणों पर छद्मवेश दूर कर उसने अपना अभिमान-भरा मस्तक रख दिया। वह भाव-गद्गद और वाणी-विहीन हो गया।

"तू पुत्र माँगने आया है, पर मैं तुझे एक विशाल साम्राज्य दूँगा।"

"उसे मैं अपने मनोबल से जीत लूँगा। पुत्र ही दीजिए मुझे।" अकबर ने सिर झुकाए हुए ही कहा।

एक

इसी समय एक कुमार पानी का भरा घड़ा और एक लोटा लेकर आ पहुँचा वहाँ। "लो, शीतल जल पी लो।" बालक ने कहा।

"हाँ, मुझे बड़ी प्यास है।" अकबर ने पानी पिया।

"लेकिन यह बालक अकबर—" आगे इसके कुछ नहीं कहा महात्माजी ने।

बालक चला गया था वहाँ से।

"वाक्य पूरा नहीं किया महाराज आपने।"

"दोपहर ढलने लगी है, तुम लौट जाओ सम्राट्। जंगल आपदाओं से भरा है, तुम्हें बहुत दूर जाना है। जाओ, पुत्र होगा तुम्हारे।"

अकबर ने बड़ी विनम्र मुद्रा से कहा—"महात्माजी की जय हो, क्या सेवा करूँ मैं आपकी ?"

महात्माजी के ओष्ठाधरों की शिराएँ प्रकंपित हुईं—"जो किसी से कुछ नहीं लेता, वही तो कुछ दे सकता है न ? जाओ, लौट जाओ। भविष्य में अब यदि कभी यहाँ आने का विचार करो, तो केवल एक मनुष्य को साथ के लिये अवश्य लाना। अधिक बात नहीं, जाओ।"

अकबर चला गया—वरदान का भार हृदय की पुलक में छिपाए। साथियों को वह यमुना के किनारे ही छोड़ आया था। घोड़ा, वस्त्र, आभूषण और शस्त्र कुछ दूर एक पेड़ से बाँध आया था।

अकबर के वहाँ से चले जाने पर "हा ! पुत्र ! हा ! पुत्र !" कहकर वह फ़क़ीर बड़े ज़ोर से रोया।

दूर ही से घोड़ा हिनहिना उठा, अकबर सम्राट् की गंध पाकर। सज्जा धारण कर वह शीघ्र ही अपने साथियों से मिल गया।

उस चिश्ती महात्मा की तेजस्विता का बड़ा अद्भुत प्रभाव पड़ा अकबर पर। उस सरलता और त्याग की मूर्ति के दर्शन से उस सम्राट् का दर्प दलित हो गया। स्वभाव से ही विचार-शील अकबर और भी गहराई में डूब गया।

उसके मनोवेगों को समझनेवाला कोई भी नहीं था साथ में। केवल एक दोहज़ारी सेनापति के साथ कुछ सेवक और सैनिक लेकर ही वह चला आया था शिकार को। जिस परा भौतिकता के दर्शन कर आया था वह बुद्धिवादी, उसे समझ-समझकर वह विजेता विस्मय-विमूढ़ हो गया। साथियों को वहीं छोड़कर वह सीधे आगरे पहुँच गया, दुर्ग में अपनी चित्रशाला में।

विचारने लगा, अजमेर की पैदल यात्रा आज फलीभूत हुई है। मुझे वहाँ से इस सीकरी के साधु-दर्शन को बिलकुल छिपाकर रख देने की आज्ञा मिली थी। मैंने भी इसका अभी तक धार्मिक पवित्रता से पालन किया है। पर महात्मा ने मुझसे स्वयं कहा है कि केवल एक मनुष्य अपने साथ के लिये ले आना। फिर इस बात की गोपनीयता की रक्षा कैसे होगी?

प्रहरीगण सतर्क होकर अपने-अपने कर्तव्यों में लय हो गए थे। बिजली की गति से महाराज के लौट आने का समाचार सारे दुर्ग और नगर में फैल रहा था।

एक दासी ने प्रवेश किया। वस्त्राभूषण और लज्जा के भार को सँभालते हुए, विनम्रता की प्रतिमा अकबर के सामने हाथ जोड़कर बोली—"दीनदयाल, स्नानागार में कब पधारेंगे?"

महारानी जोधबाई की दासी थी वह। अकबर ने हँसकर कहा—"हाँ ठहरो, महारानी से कह देना। आज मुझे कुछ आवश्यक काम करने हैं। समय पर न आ सकूँगा। मेरे स्नान का प्रबंध यहीं कर दो।"

हाथ जोड़े हुए दासी जाने लगी। अकबर ने पूछा—"हीरा के कोई समाचार मिले?"

"नहीं। राजा बीरबल की एक दासी मुझसे कहती थी। चित्तौड़ में उसका भाई रहता था। उसकी कठिन बीमारी का हाल सुनकर वह रातों रात वहाँ चली गई।"

"लेकिन उसे क्या अपनी स्वामिनी की आज्ञा ले लेनी उचित न थी?"

"दयानिधान! यह भगवान् ही जानें। सुनी-सुनाई बात ही यह दासी आपसे कह रही है।"

"फिर आज तक भी वह नहीं लौटी, कई महीने हो गए?"

"हाँ, यह भी सुना है। उसके बाद ही महाराज की सेना

ने घेरकर चित्तौड़ का ध्वंस कर डाला। जान पड़ता है, उसी में वह मारी गई।"

"उसी में वह मारी गई! मर जाने दो उसे। यही उचित दंड भी था उस अवज्ञाकारिणी के लिये। सुनो दासी, मेरी कल्पना में तिल-भर भी निवास नहीं था उसका। तुम्हारी महारानी की ही आँखों में बसी हुई थी वह, वही बेचैन हैं उसके लिये।"

"काम करने का ढंग तो कुछ भी न था उसके। हाँ, साफ़-सुथरी रहती थी। देखने में अच्छी थी, गोरी-उजली।"

"अच्छा दासी, जाओ तुम। द्वार पर प्रहरी से कह देना। मैं किसी से नहीं मिलूँगा अब आज, केवल कवि फ़ैज़ी को बुला दे वह अभी, तुरंत।"

दासी चली गई।

अकबर ने चित्रशाला के स्नानागार में स्नान किया। दूसरी दासी आई। अभिवादन कर उसने सुवर्ण के पात्रों में फल, मेवे और कुछ पानीय रक्खे उसके निकट। अकबर ने उधर दृष्टि नहीं स्थिर की। दासी से कहा—"प्रहरी को जाकर फिर चेतना दो। कवि को बुलाने के लिये फिर दूसरा आदमी भेजे।"

दासी चली गई, और कुछ क्षण बाद प्रहरी ने प्रवेश किया—"धर्मावतार, कवि अब आते ही होंगे।"

सम्राट् दीवार पर बनते हुए एक चित्र को देखने

में लगा था, बोला—"चित्रकार दसवंत नहीं आए आज ? इस चित्र में मैं आज की कोई प्रगति नहीं देख रहा हूँ।"

"आए तो थे। पर शीघ्र ही चले गए। शरीर ठीक नहीं है, कहते थे।" प्रहरी ने जवाब दिया।

इसी समय फ़ैज़ी ने अकबर के सामने उपस्थित होकर अभिवादन किया। प्रहरी अपने स्थान पर चला गया।

"क्या देख रहे हैं महाराज !" कवि ने पूछा।

"आओ फ़ैज़ी, तुमसे मिलने की बड़ी उत्कट इच्छा थी। कुछ असुविधा तो नहीं हुई तुम्हें आने में ?"

"नहीं महाराज, आपके सत्संग में जो समय बीत जाता है, जीवन के वे ही मूल्यवान् क्षण हैं।"

"दूरी उत्पन्न हो गई है अब दसवंत की कला में। लेकिन यह मूर्ख न-जाने कहाँ की छायाओं में फँस गया है।"

दोनो आसनों की ओर बढ़ने लगे।

आसन पर बैठकर सम्राट् ने कवि को भी आसन दिया, और कहा—"कुछ फल और पानीय ?"

"जैसी महाराज की इच्छा।"

अकबर ने फिर छोड़ा हुआ सूत्र पकड़कर कहा—"मुझे अपने गुरु याद आते हैं—ख़्वाजा अब्दुस्समद—ईरानी कला के तत्कालीन सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि। कवि, उन दिनों मुझे चित्र का ही व्यसन हो गया था। पुस्तकें हाथ में

लेने से बड़ी चिढ़ थी। अक्षरों को देखने-मात्र से डर पैदा होता था, सीखे ही नहीं। जैसा है, वैसा ही देखना चाहता था, विना प्रतीक की सहायता के ही।"

"ठीक है। प्रतीक सबको एक ही ध्येय पर पहुँचा भी तो नहीं सकता।" फ़ैज़ी ने कहा।

"अक्षर न सीखने से मेरे मस्तिष्क के विकास में बड़ी सहायता मिली। पढ़ा नहीं, मैंने सुना। मैं अधिक विचारशील हो गया, और मेरी धारणा प्रबल हो गई।"

"मनुष्यों से ऊपरी स्तर में तो आप हैं ही। मैं आपको और भी ऊपर समझता हूँ—अवतार! अवतार!" कवि जैसे कविता के आवेश में बोल उठा हो।

"आज मुझे दर्शन मिल गए उस रहस्य के भरे हुए महात्मा के।"

"क्या अचानक? आप मृगया के लिये गए थे?"

"वह एक बहाना था। फ़ैज़ी! मैंने उसे सिंह का सिरहाना बनाकर सोते हुए देखा। तुम मेरे अनुभवों का विश्वास करते हो, इससे केवल तुम्हीं पर यह प्रकट करूँगा।"

"संसार में कुछ भी असंभव नहीं। जो केवल गणित से ही सारी सृष्टि के व्यापार को तोलता है, भूलता है।"

"यह सब छिपकर ही देखा था मैंने। मेरी आहट पाकर उस महात्मा ने सारा कौतुक छिपा दिया। उलटा

मुझसे बोले कि इस भयानक वन में तुम्हें अकेले ही आना उचित न था।"

"यह आपकी परीक्षा थी।"

"और मैं निर्भय हो गया हूँ कवि, अब तो बिलकुल ही। मेरी भक्ति चरम सीमा को पहुँच गई है, उस महात्मा में। तुमसे अपने हृदय की बात कहता हूँ, अजमेर के महात्मा भी कुछ कम नहीं हैं, किंतु उन्होंने मुझे कोई कौतुक नहीं दिखाया।"

"आपका आगमन कैसे ज्ञात हुआ उन्हें?"

"गुफा में दो पत्थरों की संधि पर मैंने आँख गड़ाई थी। गुफा के भीतर प्रकाश था। उस समय इस पर विचार ही नहीं सका था कि वह सूर्य था या दीपक। अब समझ रहा हूँ, वह ज्योति उस महात्मा के ही शरीर से विनिर्गत थी। वह क्षण था या युग, नहीं कह सकता। हठात् मैंने उस महान् मानव को गुफा के बाहर अपने सामने खड़ा पाया। मानो वह कहीं से आया-गया नहीं, वहीं हवा में उपज गया। उसने मेरे मस्तिष्क के विचार ऐसे पढ़ लिए, जैसे तुम कोई पुस्तक पढ़ लेते हो।"

कवि ने कहा—"विचार ही तो कुछ स्पष्ट होकर अक्षर बन जाता है।" वह तुरंत ही चुप हो गया। चकित हुआ अकबर के अनुभव से वह उस चमत्कार के दर्शन कर रहा था।

"वह मुझे विशाल साम्राज्य दे रहा था, मैंने अस्वीकार कर दिया।"

"क्यों ?"

"वह मेरी कल्पना के भीतर है फ़ैज़ी !"

"फिर ?"

"मैंने उससे पुत्र का वरदान पाया है। फ़ैज़ी, तुम्हें उसके दर्शन की इच्छा नहीं होती क्या ?"

"होती है सम्राट्, क्यों नहीं।"

"तुम चलोगे फिर मेरे साथ अब की बार। उसने मुझे केवल एक मनुष्य को लेकर आने की आज्ञा दे रक्खी है। वह तुम हो। महात्मा की परीक्षा का विचार लेकर नहीं जाना होगा फ़ैज़ी।"

"नहीं महाराज !"

"कुछ संशय है, तो रहने दो। मैं किसी और को साथ के लिये ले लूँगा।"

"कोई संशय नहीं है महाराज, मैं ही चलूँगा।"

"तैयार रहना। राज-काज से छुट्टी पा लेने पर मैं तुमसे चलने को कहूँगा।"

शीघ्र ही दिन नियत हुआ, और अकबर तथा फ़ैज़ी जा पहुँचे उस महात्मा की गुफा में। महात्मा रस्सी बट रहे थे। दोनो ने दूर ही से उनके आगे मस्तक रख दिए भूमि पर, हाथ जोड़कर।

"अकबर, तू आ पहुँचा फिर ?"

"हाँ महाराज !"

"इतने शीघ्र ?"

"हाँ महाराज !"

"यह किसे साथ में ले आया ?"

"मेरे कवि-मित्र। यह मेरे ही समान आपके भक्त हैं।"

"तूने मेरी गुफा के एकांत में भीड़ बढ़ा दी अकबर। मैं नगरों के कोलाहल से इतनी दूर भागकर आया था, तूने यहीं नगर बसा दिया।"

"महाराज ही ने तो एक मनुष्य को साथ लाने की आज्ञा दी थी।" अकबर ने दंडवत्-पूर्वक कहा।

"तूने पुत्र माँगा, मैंने दे दिया, फिर किसलिये आया ?"

"महाराज के दर्शनों के लिये।"

"वह भी क्या कोई बात हुई ? दर्शन किसलिये ?"

"धर्म का तत्त्व समझने के लिये।"

महात्माजी बड़े ज़ोर से हँसे—"मैं क्यों समझा दूँगा तुझे ? तू एक विशाल साम्राज्य का विजेता है, तुझे मेरे समान एक दरिद्री के पास आने की क्या आवश्यकता है ? युद्ध की योजनाओं और शांति के प्रबंधों से क्या तुझे इतना अवकाश मिल जाता है ? अकबर ! उठ अकबर ! तुझे इस प्रकार भूमि पर पड़े रहना उचित नहीं दिखाई देता।" महात्मा ने हाथ पकड़कर उठा दिया।

उसका साथी भी उठ बैठा ।

"अकबर ! तू विशाल साम्राज्य स्थापित करेगा, इसमें संदेह नहीं । यदि तू हिंदू और मुसलमान, इन दोनो धर्मों में एकता जोड़ सकेगा, तो तेरे राज्य की जड़ को सदियों का आघात भी हिला न सकेगा ।" शेख़ सलीम चिश्ती ने कहा ।

"यही मेरी जन्म की साधना है महाराज । इस एकता के सूत्र की ही खोज में हूँ मैं । भगवान् के नाम पर इन दोनो जातियों के कलह से मैं बेचैन हो उठा हूँ । आप बतलावेंगे मुझे कोई उपाय ?" अकबर ने पूछा ।

"मैं सर्वज्ञ नहीं हूँ । परिश्रम कर, विश्वास रख । मिल ही जायगा कोई-न-कोई उपाय ।"

महात्मा ने एकाएक पुकारा—"महताब !"

महताब तत्क्षण ही दौड़ा हुआ आया—"हाँ, पिताजी !"

अकबर ने उस लड़के को देखकर मन में विचारा—"यह दूसरा लड़का है ।"

महात्माजी ने कहा—"यह सम्राट् आज कौन-से दिन फिर आया है ?"

लड़के ने मन-ही-मन गिना—"इतवार, सोमवार, मंगल ।" उसने प्रकट किया—"आज तीसरे ही दिन तो यह फिर आए हैं ।"

अकबर और फ़ैज़ी, दोनो ने अनुमोदन किया—"हाँ,

"जाओ महताब। राजू का ज्वर कैसा है ?"

"वह सो रहा है।" कहकर लड़का चला गया।

अकबर ने पूछा—"वह सौम्य-शांत बालक आज नहीं दिखाई दिया ?"

"वही तो राजू है। वह उस दिन से बीमार पड़ गया।"

"क्यों ?"

"कौन जान सकता है ? यही लिखा था।" महात्मा ने आकाश को संकेत किया।

अकबर कुछ कहना ही चाहता था कि महाराज बोल उठे— "अकबर, तू जिस रानी के पुत्र चाहता है, उससे तूने पुत्र की वर-प्राप्ति की कथा कही ?"

"नहीं महाराज।"

"क्यों ?"

"भेंट ही नहीं हुई। राज-काज में इतना व्यस्त था।"

"जा, तू इसी समय लौट जा, और उससे कह।" बड़े स्थिर और ऊँचे स्वर से महात्मा ने कहा।

अकबर लौट गया फ़ैज़ी के साथ। गुफा की ओट होने पर उसने पूछा—"क्यों फ़ैज़ी !"

"हाँ महाराज ! महात्मा पहुँचे हुए हैं, इसमें कोई संदेह नहीं। कोई चमत्कार न देखने पर भी मैं तो आश्चर्य में डूब गया हूँ।"

आगरा लौटकर अकबर सीधा महारानी जोधबाई के

महल में जा पहुँचा। संध्या के सूर्य की रक्ताभ किरणों से प्राचीर-खंड उद्भासित हो रहे थे।

दासी ने पूजा-घर में प्रवेश कर कहा—"महाराज आ रहे हैं।"

जोधबाई संध्या की आरती के उद्योग में थी। रिस में भर-कर बोली—"यहाँ न आने देना उन्हें। जा, शयन-भवन में बिठा दे उन्हें। जल्दी कर।" जोधबाई ने एक द्वार ढक दिया।

दासी चली गई। सम्राट् दालान में आ पहुँचे थे। द्वारों पर की तमाम प्रहरिणियाँ उनके आगे विनत होती जा रही थीं।

दासी ने सम्राट् के मार्ग में अनुशासन रखने की चेष्टा की।

सम्राट् ने पूछा—"कहाँ हैं महारानी?"

"पूजा-भवन में।" दासी शयन-कक्ष के मार्ग की ओर बढ़ी।

"नहीं दासी, वहीं ले चलो, जहाँ हैं वह। अकबर की छाया पड़ने से उनकी उपासना मलिन न हो जायगी। हमारे विवाह को सात वर्ष हो गए। हमारे विचार धार्मिक सहिष्णुता पर पहुँच चुके हैं।" अकबर ने उधर ही जाते हुए कहा।

दासी हाथ जोड़े हुए अनुसरण करने लगी।

अकबर ने धीरे-धीरे पूछा—"कुछ असंतुष्ट हैं क्या तुम्हारी स्वामिनी, मुझसे?"

"नहीं राजाधिराज! होवें भी क्यों?"

"तीन-चार दिन से नहीं आया—आने का संवाद देकर भी, यह और भी भूल हुई।"

दासी चुप रही।

अकबर पूजा-भवन के प्रांगण में पहुँचा। जोधबाई ने आहट पाकर, दूसरा द्वार भी ढककर शृंखल लगा दिया भीतर से।

दासी भाग गई। अकबर आश्चर्य-मूक खड़ा ही रह गया वहाँ एक क्षण के लिये। वातायन पर षट्कोणों में अंकित पत्थर की जाली से सुमधुर धूप-धूम सुवासित कर रहा था समस्त प्रांगण को।

अकबर ने द्वार पर हाथ रखकर कहा—"जोधबाई!"

जोधबाई सुविस्तारित लय में घंटी बजाकर अर्घ्य दे रही थी देवता को। अकबर ने कुछ प्रतीक्षा की, हो जाने दो पूजा। तुलसी के चबूतरे के निकट बैठ गया, दूर धूसर हरियाली और आकाश की ओर देखता हुआ। रात्रि का प्रभाव तीव्रता से बढ़ रहा था, और आँगन में जलाई गई दीप-मालिका अधिक कांति से जलने लगी थी।

द्वार फिर भी अनावृत न हुए। अकबर ने द्वार पर फिर जाकर पुकारा—"जोधबाई!"

"हाँ महाराज!" जोधबाई ने द्वार मुक्त किए। "क्षमा कीजिए महाराज, मेरी एकाग्रता में बाधा पड़ जाती है। ये दासियाँ और भी खींच-खींचकर मन को बहका देती हैं।"

"तुम फिर भूल गई हो। मनुष्य की घृणा से परमेश्वर का प्रेम नहीं मिल सकता। जोधबाई! बिलकुल ही एक विदेशी मैं। भारत के अन्न-जल की बनी माता-पिता और पुरुषाओं में कहीं कोई रक्त की बूँद नहीं। यह सुंदर देश न-जाने क्यों प्रिय हो उठा मुझे। यह सांप्रदायिकता से क्षत-विक्षत भारत एक गहरे घाव की भाँति मेरे प्राणों में धँसा हुआ है। मैं इसे एक कर दूँगा। इसके मत-मतांतरों को एक सूत्र में गूँथ डालूँगा। मैं इसमें एक राजनीति फैलाकर सबका मुख एक ही दिशा को कर दूँगा। भारत की सारी मानवता में ऐसी प्रेम-ज्योति जगा दूँगा, जिससे सारा जगत् जगमगा उठेगा। तुम पति की अवज्ञा न करो जोधबाई!"

"कैसी अवज्ञा महाराज।" जोधबाई हाथों में देव-विसर्जित फूल की माला लिए ऊब उठी थी, उसने हँसते हुए अकबर के गले में पहना दी।

"तुम्हें देखकर ही मेरे मन में यह अनेक जातियों के साम्य का भाव जाग उठता है। मेरे युद्ध और विजय की प्रेरणाओं को उदार होकर देखो। मैं सबसे पहले रक्त-हीन समर चाहता हूँ। शासकों का दुराग्रह ही मुझे शस्त्र खींचने पर बाध्य करता है। मेरे उद्देश्य में सारे भारत के एकीकरण की पवित्र भावना है।"

"परंतु—" महारानी इतना ही कहकर चुप हो गईं, और शयन-भवन की ओर बढ़ने लगीं।

अकबर ने उसका हाथ पकड़कर रोक लिया—"परंतु क्या महारानी !"

"हीरा का कुछ पता लगा ?"

"हीरा इतनी प्रिय क्यों हो गई तुम्हें ?"

"मेरे समस्त सुख-दुख की संगिनी थी वह। मेरी आवश्यकताएँ और स्वभाव को बहुत अच्छी तरह समझती थी। उसके बिना जैसे कोई बड़ी चीज खो गई है, ऐसा समझने लगी हूँ मैं।"

"मैं संसार की श्रेष्ठतम गायिका तुम्हारी सेवा में रख दूँगा।"

"मुझे वही प्रिय है।" हँसकर जोधबाई ने कहा।

"जीवित होने पर मैं उसी को ला दूँगा। मैंने समस्त राजपूताना में एक हजार अशर्फियों के पुरस्कार की घोषणा की है। जो हीरा को मेरे दरबार में उपस्थित करेगा, उसे दिया जायगा।"

दोनो शयन-भवन की ओर चलने लगे।

सुंदर चित्र और साज-सज्जा से विशोभित कक्ष चित्र-विचित्र दीपकों से प्रकाशित था। हलकी, मधुर सुवास फैली हुई थी। एक कोने में एक दासी तन्मयता से वीणा के तार मिला रही थी।

महाराज और महारानी के प्रवेश पर दासी ने वीणा सँभालकर रख दी। उठकर उसने अभिवादन किया।

अकबर ने पूछा—"नई आई है ?"

"हाँ, ग्वालियर से। महाराज तानसेन से जिसके लिये आपने कहा था, वही है। यह भी उनकी शिष्या है। रीवाँ के राजमहल में भी रह चुकी है।"

अकबर उस गायिका के निकट गया। पूछा—"क्या नाम है तुम्हारा ?"

"मालती।"

"मिलाओ स्वर।" अकबर जोधबाई के साथ चला गया, कक्ष के दूसरे सिरे पर।

मालती वीणा मिलाने लगी—"सा-सा, सा-प, प-प-सां।"

दासी की ओर देखते हुए धीरे से अकबर ने कहा—"तुम्हारे लिये बड़ा शुभ समाचार लाया हूँ।"

"मृगया को गए थे आज आप ?"

"एक महात्मा के पास गया था। बड़ा तेजस्वी, त्रिकाल-दर्शी, उसके दर्शन-मात्र से सारे पाप नष्ट हो जाते हैं।"

"क्या कहने लगे ?"

"जिस चमत्कार को देखने के लिये बरसों से आकुल था, वह देखा वहाँ।"

अकबर ने चमत्कारों का वर्णन किया। मालती गाने लगी थी।

अकबर ने महात्मा के गुण-गान के पश्चात् कहा—"महारानी, सिद्ध की जाति नहीं होती। हिंदू, मुसलमान,

ईसाई, पारसी, इनके धर्म साधन हैं, उद्देश्य नहीं। मानवता का अज्ञान इनमें अंतर देखता है। इन सबका ध्येय है, प्रकाश की ओर बढ़ना। किसी ने सूर्य को, किसी ने चंद्रमा को, किसी ने तारिका को, अग्नि को अपना प्रतीक बनाया है। मनुष्यों में वह सिद्ध महान् है इस समय। मेरा सारा गर्व उसके चरणों में खो गया। मेरी बातों में तुम्हें कुछ भी अतिरंजन नहीं समझना चाहिए।"

जोधबाई ने बड़ी भक्ति-पूर्वक हाथ जोड़कर कहा—"मैं उस महात्मा के उद्देश्य से प्रणाम करती हूँ।"

"उसने तुम्हें पुत्र का वरदान दिया है। वही एक वस्तु मैंने उससे याचना की, उसने आशीर्वाद के साथ दी।"

नववधू के समान महारानी लज्जा-विनत हो उठी। कपोलों पर के राग ने उसकी कांति विकसित कर दी—"पर मुझे बड़ा भय लग रहा है उस सिंह की माँद में रहनेवाले महात्मा का ध्यान कर।"

"यह विशुद्ध अहिंसा का प्रभाव है। यदि हमारे मन में उसका सिर कुचल देने की भावना न हो, तो हम पुचकारकर विषधर सर्प की माला बना सकते हैं। तुम्हारे महादेवजी याद आते हैं मुझे। सर्प-धारी होने से उनकी भयंकरता नहीं है, इससे उनकी अहिंसा प्रकट होती है।"

"पर वह तो संहार के देवता हैं।"

"लेकिन वृत्ति तो हिंसक नहीं है न। मैं तुम्हें एक दिन

जाऊँगा उनके दर्शन के लिये, बहुत शीघ्र। तुम सारे भय अपने मन से निकाल दो।"

मालती बड़े मनोयोग से वीणा में गा रही थी। अकबर उसके समीप गया। मालती ने गीत को और भी अलंकृत कर शेष किया।

अकबर ने उसके गुण का अभिनंदन करते हुए कहा—"वाह! आचार्य की शैली है।"

"हाँ, उन्होंने अपने श्रीमुख से मुझे शिक्षा दी थी इस गीत की।"

दो

जसभा के स्थगित प्रस्तावों को आगे बढ़ाकर अकबर ने फिर एक दिन का समय निकाला, और उस महात्मा की सेवा में जाने के उद्योग में लगा।

अपनी चित्रशाला में था वह। दीवार पर चित्रकार दसवंत एक चित्र पूरा करने में लगा था।

अकबर ने रूखे स्वर में कहा—"दसवंत ! कलागुरु ख्वाजा अब्दुस्समद से तुमने बहुत कुछ सीखा है।"

दसवंत ने हृदय पर हाथ रखकर सम्मान प्रकट करते हुए कहा—"निस्संदेह महाराज ! कला की साधना में गुरु की प्रतिष्ठा मुख्य बात है। ख़्वाजा महोदय के लिये मेरे हृदय में बड़ी श्रद्धा है।"

अकबर साम्य में आया—"इसमें सत्य है, तुमने अपनी शैली का विकास किया है। पर उसमें देखनेवाले के लिये ईरानी प्रभाव स्पष्ट है।"

"अपराध क्षमा हो नरेंद्र ! कला को देश और जातियों में बाँट देना अत्याचार है। कला सर्वजनीन है, गणित की

भाँति, भाषा की तरह नहीं। वह देश और काल के बंधनों से मुक्त है। जो भौगोलिक प्रभाव कला में उपज जाता है, मैं उसे उसका शृंगार मानता हूँ, सत्य नहीं।" दसवंत ने हाथ जोड़कर नम्रता-पूर्वक कहा।

"हाँ, किसी सीमा तक तुम्हारी बात ठीक है। एक समय मेरे मन में भी इस कला के लिये बड़ी साध थी।"

"यदि आप छोड़ न देते, तो इस समय आपकी बराबरी कोई न कर सकता।"

"छोड़ा कहाँ चित्रकार! मन के सपने वही हैं अब भी। ये संधि-विग्रह के उपकरण, ये युद्ध-शांति के उपाय, ये विजय-पराजय की भावनाएँ, ये सब मेरे मन ही के तो चित्र हैं। एक स्वप्न!" अकबर ने बड़े कठिन प्रयास से साँस ली।

"कैसा स्वप्न महाराज! सेवक से कहिए। वह उससे आपके सारे राजमहल की प्राचीरों को रँग देगा।"

"वह स्वप्न है दसवंत, सारे भारतवर्ष को एक मानवता के नाते में जोड़ देने का। अभी बहुत दूरी पर, बड़ा धूमिल दिखाई दे रहा है।"

"महाराज, आप दक्षिण-विजय के लिये सेनापतियों को तैयार कीजिए। बिना विंध्यगिरि का अतिक्रमण किए कुछ न होगा।"

"यह सब हो जायगा। अकबर इसे सदियों का नहीं, वर्षों का प्रयास समझता है। कठिनता है सूत्र की।"

"कैसा सूत्र ?"

"केवल एक ही, जिसमें ये इतने विरोधमार्गी गूँथकर एक कर लिए जा सकें।"

"उत्तोलित खड्ग !"

"नहीं दसवंत ! प्रजा के हृदय पर अधिकार करना होगा। खड्ग, दंड और कारागार से नहीं; अहिंसा, सत्य और प्रेम के बंधन से।"

दसवंत अपनी ही कहने लगा—"मैंने जब दक्षिण की यात्रा की थी—"

अकबर ने बाधा दी—"इस सुंदर और सुविस्तृत देश की एक-एक वस्तु मुझे प्रिय हो उठी है।"

"आपने दक्षिण के वे गुफा-मंदिर देखे ही नहीं। वहाँ चित्र, मूर्ति और स्थापत्य की कलाएँ एक ही साथ खेल रही हैं—सुंदर, अद्भुत और स्वर्गीय। कब, किसने उनका निर्माण किया ? क्या उद्देश्य था ? कोई नहीं बता सकता। उतना मनोहर तीर्थ क्यों जन-हीन हो गया।"

"तुमने कभी उस गुफा का वर्णन किया था। तुम्हें मार्ग ज्ञात है उसका ?"

"एक चरवाहा ले गया था मुझे वहाँ। कला का वह उद्देश्य मेरे मन में बस गया। वहीं समझ पड़ा, कला बंधन नहीं, मुक्ति है।"

"दसवंत, तुम्हारी गुफा से मुझे भी एक गुफा याद आ गई। चलोगे वहाँ?"

"कितनी दूर?"

"यहीं आगरे के समीप।"

"कोई कला प्रकट है वहां?"

"हाँ, एक जीवित महात्मा की, जिसके आश्चर्य-कौतुक देखकर तुम विस्मय-मूढ़ हो जाओगे।"

"चलूँगा महाराज!"

"मैं फ़ैज़ी को ले गया था वहां। यद्यपि महाराज ने उसे कोई चमत्कार नहीं दिखाया, तथापि वह उन्हें एक महान् सिद्ध समझने लगा है।"

"कब चलिएगा?"

"लेकिन उनकी गुफा में जाने के लिये मन में कोई पाप रखकर जाना न होगा।"

"नहीं राजाधिराज, मैं न जाऊँगा वहां।"

"क्यों, मैं ले चलूँगा तुम्हें।"

"मेरे मन में पाप है।"

"उसे दूर कर चलना।"

"वह सहज ही दूर नहीं हो सकता।"

अकबर को कुछ स्मरण हुआ—"तुम हीरा गायिका से परिचित हो?"

"हाँ महाराज!" दसवंत ने शरीर का कंपन छिपा-

कर हाथ जोड़े—"अपराध क्षमा हो दीनदयाल !"

"कैसा अपराध दसवंत ! मैं तुम्हें उसके चित्र अंकित करने की आज्ञा दे रहा हूँ।"

स्थिर होकर चित्रकार ने उत्तर दिया—"कैसा चित्र ?"

"अभी वह गायिका राजमहल से खो गई है। तुमने नहीं सुना ? वह महारानी जोधबाई को परम प्रिय थी। मैंने उसकी खोज के जितने भी प्रबंध किए, अभी तक वे सभी व्यर्थ हुए हैं।"

"मुझे ज्ञात है महाराज ! क्या आज्ञा है, सेवक के लिये ?"

"तुम उसके कुछ चित्र बना दो। स्मृति की सहायता से बना सकते हो न ? तुमने कहा था एक बार।"

"सही चित्र बन जायगा महाराज ?"

"यही कहा था तुमने कि एक-दो बार देखने पर भी सच्चा चित्रकार बना सकता है चित्र किसी भी आकृति का।"

"ऐसा तो है महाराज !"

"फिर उसका चित्र बनाने में कोई बाधा नहीं। तुमने हजार बार उसे देखा है। जाओ, प्रयास करो। जैसे भी हो, एक चित्र बनाओ। हम अपनी कल्पना से उसकी अपूर्णताएँ दूर करा लेंगे। एक चित्र बन जाने पर फिर उसकी अनेक प्रतिलिपियाँ कर लेना कुछ कठिन न होगा।"

"इतने चित्रों से क्या होगा महाराज ! सेवक पूछ सकता है ?"

"मैं राज्य के कुछ चुने हुए गुप्तचरों को एक-एक चित्र दूँगा, वे उसे ढूँढ़ निकालने में शीघ्र कृत-संकल्प हों। चित्तौड़ के जौहर में हीरा नहीं जल मरी है, मैं इस बात को समझता हूँ। उसके कुछ चित्र यहाँ राजमार्गों में लगा दिए जायँगे। मेरा विचार है, हीरा आगरे के बाहर नहीं गई है। मैं उसके लिये घोषणा कर दूँगा। यदि वह किसी नियत तिथि के भीतर अपने को राजभवन में उपस्थित न करेगी, तो मैं उसे सारी आगरा की प्रजा के सामने फाँसी दे दूँगा। मैं उसे पकड़कर लानेवाले को हज़ारों अशर्फ़ियाँ इनाम में दे दूँगा।" उत्तेजना से अकबर चित्रशाला में इधर से उधर टहलने लगा।

चित्रकार दसवंत ने अकबर के क्रोध को बढ़ने नहीं दिया—"मैं चित्र बना लाऊँगा महाराज !"

"मैंने तुम्हें अवकाश दिया। जाओ, चित्र बनने तक तुम पर दरबार के किसी काम का प्रतिबंध न रहेगा। अपनी सारी अन्य कल्पनाओं को वहीं अधूरी छोड़ जाओ। अभी चल दो। राजकोष से तुम्हें पेशगी वेतन दिए जाने का प्रबंध कर दिया जायगा।"

दसवंत अभिवादन कर जाने लगा उसी समय। द्वारपाल ने प्रवेश किया, और कुछ दूरी पर हाथ जोड़कर खड़ा हो गया।

अकबर ने कहा—"दसवंत! मैं तुम्हें कलाकार समझता

था। मैंने तुम्हें एक महात्मा के दर्शन के लिये चुना, और तुम तैयार नहीं हुए।"

"महाराज, मैंने सच-सच अपनी दुर्बलता प्रकट कर दी।"

"लेकिन ढककर। कला की उपासना सत्य की ही संस्कृति है। जाओ, चित्र बनाओ, यह तुम्हारी परीक्षा है।"

चित्रकार चला गया। प्रहरी ने निवेदन किया—"महाराज, आचार्य तानसेन आ पहुँचे हैं।"

"आने दो उन्हें।"

अभिवादन किया तानसेन ने वीणा सँभालकर, फिर आसन ग्रहण किया।

"जब मन में विचार-विद्रोह हो उठते हैं, तब तुम्हारी स्वरावलि उनमें साम्य उत्पन्न करती है गायक! एक दूसरे ही मतलब से पर इस समय बुलाया है मैंने तुम्हें।"

"वह आज्ञा देने के लिये महाराज प्रसन्न हों।"

"यहाँ से दस-बारह कोस पर एक महात्मा की गुफा है। मैंने उन्हें बड़ा अद्भुत पाया है। मैं चाहता हूँ, अपने दरबार के चुने हुए व्यक्तियों को उनके दर्शन करा दूँ। इस बार तुम चलोगे मेरे साथ?"

"सेवक का सौभाग्य है यह। आप जब आदेश दें।"

"आज समय नहीं, कल को। पर मन को शुद्ध और निर्मल बनाकर जाना होगा।"

"निस्संदेह महाराज!"

दूसरे दिन आचार्य तानसेन के साथ सम्राट् अकबर उस महात्मा की गुफा में जा पहुँचा।

इस बार अकबर पूरे एक महीने बाद गया था गुफा में, तानसेन को दूरी पर छोड़कर वह गुफा के द्वार पर गया।

महात्मा जी छोटे-छोटे पत्थरों के टुकड़ों से खेल रहे थे, बाहर ही, बालकों की भाँति। अकबर ने जाकर उन्हें अभिवादन किया।

हँसकर महात्माजी ने वे पत्थर एक ओर फेंक दिए, और बोले—"आज बहुत दिनों में आया है अकबर तू।"

"हाँ महाराज!" अकबर सोच-विचार में पड़ गया।

"क्यों?"

"आप ही ने ऐसी आज्ञा दी थी। इसके अतिरिक्त राज्य के प्रस्तार और प्रबंध में भी बहुत समय लग गया।"

"तू जब तेरी इच्छा हो, तब आ सकता है अकबर! तूने भय को जीत लिया है। निर्भय मनुष्य के लिये सभी प्रवेश उन्मुक्त हैं। तू मेरे विचारों में रहने लगा है। आज किसी को साथ के लिये नहीं लाया?"

"लाया हूँ महाराज!"

"तेरी राजसभा में एक गायक है। सुना है, वह फूलों को खिला सकता है, पत्थरों को पिघला देता है। वह आग पैदा कर सकता है, पानी बरसा सकता है।"

"वह गायक आपकी सेवा में उपस्थित है यहीं।" अकबर ने पुकारा—"आचार्य !"

तानसेन दौड़ते हुए आ पहुँचे। उन्होंने दंडवत्-प्रणाम किया महात्माजी को।

महात्माजी बोले—"आज सुबह से ही मेरा मन गीत सुनने के लिये विकल है। आजकल ये वन की सब चिड़ियाँ भी शांत हैं। ऋतु अनुकूल नहीं है, उनके उल्लास के लिये। मनुष्य जब चाहे, तब गा सकता है।"

"नहीं महाराज, अपराध क्षमा हो। मनुष्य को भी भाव की समता चाहिए, तभी उल्लास मिलेगा।"

"ठीक होगा। तुम गा सकते हो इस समय। पर तुम्हारे पास कोई यंत्र नहीं है।"

"वह बाहर-भीतर की समता का केवल साक्षी-मात्र है। मन में विश्वास हो, तो विना यंत्र के ही हम गा सकते हैं।"

"सच है गायक ! गा फिर।"

तानसेन आसन पर स्थिर हुए। उन्होंने स्वर बाँधा, और धीरे-धीरे गीत आरंभ किया। महात्माजी ने आँखें बंद कर लीं, और सम्राट् भी देश-काल को भूलकर उस स्वर-सागर में डूब गए। अचानक आचार्य ने गीत बंद कर दिया।

महात्माजी को नींद आ गई, ऐसा जान पड़ा।

अकबर ने गीत बंद होते आँखें खोलकर साश्चर्य आचार्य की ओर देखा।

आचार्य नें गुफा के पीछे की ओर संकेत कर कहा—"वह क्या सुनाई दे रही है, बड़ी करुण और वेदना की पुकार।"

अकबर नें उधर ही मन लगाया—"असह्य पीड़ा को व्यक्त कर रही है यह ध्वनि।" महात्माजी का एक लड़का बीमार था।

महात्माजी नें आँखें खोलकर कहा—"तुमनें बंद कर दिया गीत। बड़ी मोहिनी विद्या, कहाँ पाई तुमनें ?"

तानसेन नें बड़ी भक्ति के भाव से दोनो हाथ जोड़ दिए।

अकबर नें पूछा—"महाराज, आपके लड़के का स्वास्थ्य अब कैसा है ?"

"वही तो कराह रहा है बड़ी देर से। अपनी ललित स्वरावलि में नहीं डुबा सकते तुम इसको ?"

अकबर और तानसेन, दोनो उदास-दीन मुद्रा में बैठे ही रह गए वहाँ।

'जीवन और मरण, यही तो दो ध्रुव हैं इस संसार के। मैं यथाशक्ति उसके लिये उपचार और प्रार्थना करता हूँ, जब उसका अन्न-जल ही इतना है, तो मैं क्या करूँ।"

अकबर बोला—"हम उस बीमार को देख सकते हैं महाराज ?"

"नहीं सम्राट्।"

"अपनी राजधानी के सबसे बड़े हकीम-वैद्य को बुला लाऊँ अभी ?"

"वह भी नहीं।"

"गुफा के पीछे है वह बालक ?"

"हाँ, उसकी माता है उसकी परिचर्या में। और भी दो छोटे भाई हैं उसके।"

"कुछ खाता-पीता है बीमार ?"

"गाय है एक। दूध लेता था पहले थोड़ा-सा कुछ। अब उसके लिये भी अरुचि दिखाता है।"

"गुफा में ही रहते हैं वे लोग उधर ?" अकबर ने पूछा।

"नहीं, फूस का एक छप्पर बना रक्खा है।"

अकबर नें महात्मा के बहुत निकट जाकर घुटनें टेके, और बड़ी विनय से बोला—"आपका मैं एक तुच्छ सेवक हूँ। मेरे मन में एक इच्छा है।"

"क्या इच्छा है सम्राट् अब और तेरी ?"

"मैं चाहता हूँ, यहाँ आपके स्त्री-पुत्रों की सुविधा के लिये ईंट और पत्थर का एक सुरक्षित निवास बन जाता, तो अच्छा होता। ऋतु के काँटे से बच्चों और बीमारों को इतना कष्ट न उठाना पड़ता।"

"तू राज और मजदूरों की सेना से चढ़ाई कर देना चाहता है मेरी गुफा पर ?" हँसकर महात्माजी ने कहा—"बात तो तू ठीक ही कह रहा है।"

"मैं आज ही जाकर यह आज्ञा अपनें प्रबंधकों को सुना देता हूँ। कल ही से काम आरंभ हो जायगा। रातोंरात शीघ्र

ही समाप्त कर दिया जायगा। यह रक्त-प्रस्तर यहाँ बड़ा सुंदर है।"

"पर हज़ारों आदमियों की भीड़ न भेज देना। बीमार घबरा उठेगा। केवल दस-बीस मनुष्य, जो चुपचाप बड़ी शांति के साथ यहाँ काम करें।"

"यही होगा महाराज!"

"और कुछ न गाओगे तानसेन! तुमने बड़े सुंदर स्वरों का साम्य किया है। मेरे मन को बलात् खींचकर देश और काल की अथाह गहराई में डुबा दिया। इच्छा होती है, नित्य ही तुम्हारे गीत सुनूँ, जिससे यह प्रपंच भूला रहे।"

अकबर ने हाथ जोड़कर कहा—"इसका भी प्रबंध हो सकेगा महाराज!"

"इस बालक के—" महात्माजी ने अधूरा ही वाक्य कहा।

अकबर ने उसे पूरा किया—"हाँ महाराज, इस बालक के शीघ्र नीरोग हो जाने पर।"

"क्या चिंता है, दो ही सिरे तो हैं।" महात्माजी ने पश्चिम के आकाश को देखकर कहा—"पर अब तुझे तुरंत ही चल देना चाहिए।"

अकबर और तानसेन, दोनो उठ खड़े हुए। तानसेन ने महात्माजी के पैर छुए, फिर अकबर ने भी। दोनो विदा होने लगे।

महात्माजी नें पूछा—"घोड़े ?"

"निकट ही बाँध रक्खे हैं।"

दोनो चले गए।

मार्ग में तानसेन ने कहा—"जैसे ही मैंनें महात्माजी के चरणों का स्पर्श किया, एक बिजली-सी मेरे सारे शरीर में कौंध गई।"

"मैंने भी यही अनुभव किया। हैं न महात्माजी परिपूर्ण ?"

"इसमें तिल-भर भी संदेह नहीं महाराज !"

आगरा पहुँचकर अकबर नें उसी समय आगरा से उस गुफा तक एक राजमार्ग बनानें की आज्ञा दी, रातों-रात। एक दक्ष प्रबंधक के निरीक्षण में यह काम आरंभ हुआ। हजारों मनुष्य जंगल काटनें और धरती खोदनें में नियुक्त हो गए। दूसरे दिन संध्या-समय तक उन्होंनें वह सड़क बना दी। गुफा के निकट की कुछ दूरी छोड़ देनें का आदेश मिला था उन्हें, जिससे महात्माजी का शांत वातावरण न टूटे।

पहला हाथी उस पर चला महान् अकबर का। उसके कुछ चुनें हुए सभासद् थे साथ। उनके बाद गाड़ियों में बीस सुदक्ष तक्षक और मजदूर थे—भवन-निर्माण के सामान और हथियारों के साथ।

अकबर नें महात्माजी के दर्शन किए, और उन सेवकों को उन्हें सौंपकर तुरंत ही लौट गया। उन सबका

मुखिया स्थापत्य का विशारद महात्माजी के उनकी कुटियाँ के निर्माण की रूप-रेखा पर विचार मिलाने लगा।

हठात् महात्माजी अवसन्न होकर बोले—"पर ठहर जाओ, कदाचित् यह बड़ी भूल हो जाती। तुम्हारे साथी सब भगवान् की महिमा से परिचित हैं न?"

विशारद ने कहा—"हाँ महाराज!"

"वे समय पर प्रार्थना करते हैं न उसकी, कम-से-कम तीन बार?"

"हाँ महाराज!"

"यह जंगल मनुष्य की आबादी से भर जायगा, पर पहला घर मेरा नहीं बनेगा, भगवान् का।"

"जैसी आज्ञा हो महाराज।"

"यहीं एक मसजिद बना दो कि उसके भक्तों को याद रहे।"

मसजिद बननी आरंभ हुई।

जब अकबर को यह समाचार ज्ञात हुआ, तो एक दक्ष निरीक्षक रातों-रात दिल्ली से बुलाकर वहाँ और भी अधिक मूल्यवान् सामान के साथ भेजा।

मसजिद बनकर तैयार हुई शीघ्र ही। प्रथम उपासना का दिन नियत हुआ। अकबर भी अपने दरबारियों के साथ उसमें भाग लेने को उपस्थित हुआ।

तक्षकों में अनेक कारीगर हिंदू भी थे। उन्होंने कहा—
"हम पूर्व को मुख करेंगे।"

महात्माजी ने कहा—"मन मिला हुआ होना चाहिए। पूर्व और पश्चिम में कोई अंतर नहीं। कुछ दूर पड़ जाने से पूर्व ही पश्चिम है और पश्चिम ही पूर्व।"

महात्माजी का ऐसा प्रभाव हुआ, किसी ने उनकी बात का विरोध नहीं किया। सबने अपने-अपने ढंग से उपासना की।

उपासना के बाद अकबर ने बहुत-सा दान वितरण किया। पास-पड़ोस के अनेक ग्रामों से लोग वहां आकर जमा हो गए थे, उनको भोजन कराया गया।

अकबर महात्माजी के साथ उनकी कुटी पर गया। मार्ग में उसने महात्माजी के बीमार पुत्र की कुशल पूछते हुए कहा—"वह बालक अब कैसा है?"

"दिन-दिन उसकी बीमारी बढ़ती ही जा रही है।" उन्होंने बड़े उदासीन भाव से कहा।

"क्या किया जाय?"

"किया कुछ नहीं जाता, जो होता है, वही ठीक है।" कहकर महात्माजी हँसने लगे।

गुफा के पिछवाड़े से उस बीमार ने चीत्कार छोड़ा।

"वही चिल्लाया। करवट बदली होगी उसकी मा ने उसकी।"

अकबर ने एक काग़ज़ निकालकर महात्माजी को दिखाया—"यह नक्शा बनवाया है मैंने आपके कुटीर का।"

महात्माजी बड़े मनोयोग से उसे देखने लगे।

अकबर ने कहा—"जहां भी आप आज्ञा दें। आज ही समस्त बुनियाद खोद ली जायगी।"

"जहां तू ठीक समझता है। तूने राजमार्ग द्वारा मेरी गुफा को अपनी राजनगरी के साथ जोड़ दिया। जंगल का भय जाता रहा। तूने इसे जनाकीर्ण कर दिया। हिंसक पशु दूर-दूर भाग गए। अब तुझे देर न होगी कभी अकबर! तू अपनी इच्छा से यहाँ विचर। पर याद रखना, मेरी गुफा के भीतर तेरा कोई अनुशासन न रहेगा।"

"मैं आपका तुच्छ सेवक हूँ महाराज! महारानी में ससत्वा होने के लक्षण प्रकट हुए हैं। यह आपके ही वरदान का फल है।"

"हो सकता है।"

"महारानी की यह आंतरिक इच्छा है कि वह यहीं आकर रहे।"

"क्यों?"

"आपके दर्शनों के लिये। उसका पक्का विश्वास है, यहाँ रहने से उसका पुत्र दीर्घजीवी होगा। राजमहल के कुचक्रों से घबराया हुआ हूँ मैं भी। उसका यहीं रहना ठीक होगा।"

"तो पहले उसी का महल बनाने की आज्ञा दे। उसके

साथ उसकी सेवा और रक्षा के लिये दास-दासियों का समूह भी आवेगा। उनके रहने का भी ठिकाना कर।"

"आपकी कुटी बना लेने के बाद ही यह सब होगा।"

"साथ-ही-साथ बनाले, पूर्व-उत्तर की ओर यह भूमि सुंदर है। चल मेरे साथ।" महात्माजी चले।

अकबर ने उनका अनुसरण किया। लगभग दो सौ गज़ चलकर महात्माजी रुक गए—"यहाँ बना अपनी महारानी के लिये महल। अब तूने यह एकांत मनुष्यों को दिखा दिया है, अब क्या चिंता है।"

अकबर की आँखों के आगे वहाँ एक साकार नगर घूम गया, मनुष्यों के यातायात और कोलाहल से भरा हुआ, पर उसने कुछ प्रकट नहीं किया।

जोधबाई का महल भी बनने लगा वहाँ से प्रायः एक मील की दूरी पर। आगरे की सड़क पर सुविशाल प्रवेश-द्वार बनाए जाने का निश्चय हुआ। वहीं से उस स्थान के चारों ओर रक्षा-प्राचीर बनाए जाने की आज्ञा हुई।

धीरे-धीरे वहाँ एक गाँव बस गया। राज-मज़दूरों के लिये अनेक दूकानें भी खुल गईं। लोगों ने उस जन-निवास को सीकरी के नाम से प्रसिद्ध किया।

सीकरी में जोधबाई का महल प्रचुर धन और श्रम के ऊपर क्षण-क्षण में उन्नत हो चला, और आगरे में स्वयं जोधबाई गर्भ के भार से दिन-दिन विनत हो चली। उसका

स्नान-ध्यान, जप-पूजा, व्रत-उपवास और भी नियम और भक्ति के साथ चल पड़े।

वह तुलसी के चबूतरे के पास खड़ी सूर्य को अर्घ्य दे रही थी। फल-फूल, गंध-अक्षत, धूप-दीप, दूध-गंगा-जल लिए दासियाँ खड़ी थीं निकट ही।

अकबर ने चुपचाप प्रवेश किया वहाँ। दासियों को भी पता न चला। अकबर उतने क्षण तक एक चित्र की भाँति उन्हें देखता रहा।

दासी के पास से पुष्प लेने को जब महारानी ने हाथ बढ़ाया, तो उसकी दृष्टि सम्राट् पर पड़ी। उसके मंत्र से आंदोलित ओष्ठाधर कुछ खिंच गए।

अकबर ने कहा—"इस ईरानी साज-सज्जा में तुम सूर्य की उपासना करती हुई अद्भुत शोभामयी दिखाई दे रही हो।"

जोधबाई केवल मुसकराई। अपनी पूजा के क्रम को अविच्छिन्न रखती हुई सोचने लगी, मैंने अनेक बार महाराज से अपनी पूजा के बीच में न बोलने की बिनती की है।

"जिस प्रकार व्यक्तियों से गृह और गृहों से समाज की रचना हुई है, क्या उसी तरह समाज राष्ट्र की शृंखलाएँ नहीं हैं?"

जोधबाई ने पूजा समाप्त कर कहा—"मैंने महाराज से पूजा के समय बाधा न देने की प्रार्थना कर रक्खी है।"

"मेरी भी तो वह पूजा ही थी! मैंने भी तो स्तुति के ही

पुष्प तुम्हें समर्पित किए। ईरान के सम्राट् का भेजा हुआ यह वस्त्र और अलंकारों का उपहार, मेरे इतने दिनों के अनुरोध पर भी, तुमने आज तक नहीं पहना। आज एकाएक तुम्हें उसमें देखकर मैं भूल ही गया। कैसे विचार बदला तुम्हारा आज? तुमने रेशम और सुवर्ण को सदैव अपनी पूजा में पवित्र बनाया है।"

जोधबाई केवल हँसने लगी।

"कुछ उत्तर दो न? अपनी ही वस्तु के आदर से केवल हमारा अहंकार बढ़ता है, जो विचार को कभी ऊँचा नहीं उठने देता, तुम सूर्य की उपासिका हो। नहीं जानता, यह उपासना क्यों मेरा मन खींचने लगी। ईरान में भी पहले पूजा की कुछ ऐसी ही पद्धति और प्रतीक थे। कुछ ईरानी रक्त है मेरी नसों में। मुसलमान होने से पहले मेरे मुग़ल पुरखा भी प्रकृति-उपासक थे, कदाचित् यह कारण हो।"

"अपना-अपना विश्वास है।"

दासियों ने संकेत पाकर वहीं बहुमूल्य आसन बिछा दिए थे एक मंच पर।

अकबर ने बहुत धीरे-धीरे कहना आरंभ किया—"बहुत आवश्यक काम से आया हूँ मैं।"

दो दासियाँ, जो हाथ बाँधे निकट ही खड़ी थीं, दूर द्वार के पास चली गईं।

"क्या आज्ञा है महाराज?"

अकबर ने कहा—"अब तुम्हारा गर्भ पाँच महीने का हो गया। तुम दिन-दिन सुकोमल और श्रम-भार के लिये अशक्त हो चली हो।"

"कौन-से श्रम का भार वहन कर रही हूँ मैं ?"

"यह नियम-पूजा ?"

जोधबाई ने विस्फारित नेत्रों से सम्राट् को निहारा।

सम्राट् ने तत्क्षण ही कहा—"इन्हें तोड़ देने के लिये नहीं कह रहा हूँ मैं।"

"फिर ?"

"मुझे सिखा दो। मैं कर लूँगा यह सब कुछ। पंडित बीरबल कहते हैं, हो सकता है।"

"पद्धति आप सीख लेंगे एक ही दिन में, आपकी प्रबल धारणा की साक्षी मिलती रहती है मुझे बार-बार।"

"फिर क्या ?"

"ये संस्कृत के मंत्र ?"

"मैं उन्हें भी याद कर लूँगा।"

"वह भाषा सीखनी पड़ेगी। उसका अर्थ जानकर ही तो भावना का विकास होगा न ? हाँ, हीरा का कुछ पता चला ?"

"दसवंत उसका चित्र बना रहा है।" सम्राट् उठकर जाने लगे—"मैंने बीरबल को बुला रक्खा है कुछ परामर्श के लिये। सीकरी में तुम्हारा महल प्रायः तैयार है। तुम कब चलोगी ?"

"उस एकांत में रहने को मैं बड़ी आकुल हूँ। फिर उन

महात्मा का दर्शन करना मेरा कर्तव्य है। उनकी वाणी मेरे लिये वरदान हुई। आज दिन में पुरोहितजी जब श्रीमद्भागवत के पाठ के लिये आवेंगे, तो मैं उनसे वहाँ के प्रस्थान के शुभ मुहूर्त की गणना को कहूँगी।"

"भूलना नहीं, अभी कोई दासी भेज दो उनके पास।" अकबर चला गया।

अंत:सभा में बीरबल सम्राट् की प्रतीक्षा में था। उनके आने पर उसने नम्रता-पूर्वक अभिवादन किया।

"राजा मानसिंह नहीं आए ?"

"आपने शीघ्र ही रणथंभोर के दुर्ग पर चढ़ाई करने का निश्चय किया था, वह सैन्य-संग्रह कर रहे हैं।"

"उससे पहले हमें महारानी जोधबाई को सीकरी के भवन में भेज देना है। राजा बीरबल, मैंने एक स्वप्न देखा है।"

"कैसा स्वप्न महाराज ?"

"यह सारी आगरा की राजधानी सीकरी में जाकर बस गई, सबसे पहले जोधबाई का महल चला वहाँ को। सीकरी का महात्मा प्रत्यक्ष सिद्ध है।"

"सत्य ही महाराज !"

"उसने मुझे हिंदू और मुसलमानों में एकता स्थापन करने का आदेश दिया है। बिना सारे भारत को राजनीति के सूत्र में एक किए यह कार्य संभव नहीं। हीरा का कुछ पता चला ?"

"नहीं महाराज !"

"सीकरी में जोधबाई की रक्षा के लिये अभी कुछ दिन तुम रहोगे। तुम्हारे लिये भी वहाँ एक महल बना दिया गया है।"

प्रस्थान के नियत दिन जोधबाई दल-बल-सहित सीकरी में निवास करने के लिये चली गई।

सारी सीकरी एक नए नगर की भूमिका से जगमगा उठी। महारानी की सेवा-शुश्रूषा, आमोद-प्रमोद में सारी जनता हर्ष और उमंग के साथ पुत्रोत्सव की प्रतीक्षा कर रही थी।

केवल उस महात्मा की कुटी में उनके बीमार बालक की वेदना मृत्यु के छाया-पगों को क्षण-क्षण में अपनी ओर खींच रही थी।

महात्मा का वरदान सत्य में परिणत हुआ। ठीक समय पर महारानी जोधबाई ने पुत्र-रत्न को प्रसव किया। सारी सीकरी हर्ष के उल्लास में जगमगा उठी।

सम्राट् अकबर दल-बल-सहित कृतज्ञता-प्रदर्शन के लिये उन महात्मा के कुटीर पर जा खड़ा हुआ।

महात्माजी का कहीं पता न था। कुटी के भीतर से करुण क्रंदन की ध्वनि आ रही थी। दूर पर जोधबाई के महल में मंगल वाद्य बज रहे थे। इन दोनो ध्वनियों में जो तीक्ष्ण तुलना उत्पन्न हो रही थी, वह विराग-जनक थी।

सम्राट् के वाहक ने फिर बाहर से पुकारा—"महात्माजी ! महात्माजी !"

क्रंदन जैसे मर्मवेधी था। इस में कुछ यति पड़ी। दौड़ते हुए पैरों की चाप सुनाई दी।

भीतर से एक बालक की वाणी सुनाई दी—"द्वार खोल दे मा!"

द्वार खोल दिया किसी ने। मलिन अवगुंठन में छिपी हुई एक महिला थी। तत्क्षण ही भीतर चली गई।

देहली पर एक बालक खड़ा दिखाई दिया, बड़ा लज्जालु। उसने छाती में दोनो हाथ मिलाकर उस पर माथा विनत कर रक्खा था। रोते हुए ही उसने कहा—"पिताजी नहीं हैं भीतर।"

"कहाँ गए?"

"कहीं गाय के लिये घास काट रहे होंगे।"

"क्यों रो रहे हो तुम?" अकबर ने पूछा।

बालक रोते हुए भीतर चला गया। उसकी माता ने कोने में से एक लकड़ी उठाकर उससे द्वार ढक दिया।

अकबर समझ तो गया ही था। उसने मंत्री से कहा, धीरे-धीरे—"महात्माजी का एक लड़का बीमार था बहुत दिनों से।"

अनुचर महात्माजी को खोजने लगे चारों ओर। उनका कहीं पता न था। वह लौट भी नहीं सका, कुटी के भीतर जाने का भी साहस नहीं हुआ उसे।

अचानक जोधबाई के महल से लौटते हुए दिखाई दिए

महात्माजी। अकबर ने दौड़कर सबसे पहले उन्हें प्रणाम किया।

हँसते हुए उन्होंने कहा—"मैं नवजात राजकुमार के दर्शन भी कर आया। तुम्हें बधाई देने गया था, तुम यहाँ मिले।"

अकबर ने कृतज्ञता-पूर्वक कहा—"यह सब आपके ही आशीर्वाद का फल है।" उसने और भी उदास होकर कहा—"महाराज, वहां आपके कुटीर में—"

"यह तो लगा ही रहता है।" बड़ी साधारण मुद्रा में महात्मा बोले।

"बड़ा करुण रुदन वहाँ?"

महात्मा ने जैसे सुना ही नहीं।

"कुटिया के भीतर कदाचित वे लोग आपकी राह देख रहे हैं, बड़ी देर से।"

"अच्छा, मैं जा रहा हूँ वहीं। तू भी लौट जा अकबर, आज बहुत दिनों की तेरी कामना पूर्ण हुई है। जा, खूब हर्ष मना और दान कर।"

"आपकी आज्ञा शिरोधार्य है, पर आपके बीमार बालक की कुशल जानने को व्यग्र हूँ मैं इस समय।"

"उसके जीवन की अब कोई आशा नहीं है सम्राट्!" कहते हुए महात्माजी अपनी कुटी के भीतर गए।

अकबर ने केवल मंत्री को साथ लेकर और सबको कुछ दूरी पर भेज दिया।

महात्माजी बाहर आकर हँसे। अकबर को उनकी हँसी का भेद मिल चुका था, अवसन्न ही रहा वह।

"अरे, वह तो सबसे छोटा बालक निकला।"

"क्या हुआ महाराज?"

"उसके प्राण चले गए अकबर! वह सुबह अच्छा था।"

"हा भगवान्!"

"अपनी बारी पर ही प्रत्येक जाता है अकबर!"

"बीमार बालक की क्या दशा है?"

"वह चुपचाप पड़ा है आज। ज्वर है उसे। कराह नहीं रहा है आज वह बिलकुल।" महात्माजी ने दूर पर स्थित सेवकों से कहा—"यह क्या ले आया तू मेरी भेंट के लिये? जा, दीन-दुखियों को बाँट दे।"

"अब क्या होगा महाराज!" अकबर ने मंत्री को संकेत किया कि सब वापस चले जायँ।

"यहाँ की कोई चिंता न कर तू। जा, अपने उत्सव का प्रबंध कर।"

"मैं उस शिशु का मुख देखना चाहता हूँ।"

"नहीं, इसकी कोई आवश्यकता नहीं। जा, सूतिका-गृह में अपने नवजात शिशु का मुख देख। अधिक हठ न कर अकबर! जा-जा।"

अकबर लौटने लगा। अपने पुत्र-जन्मोत्सव के हर्ष में महात्मा के पुत्र का निधन भूल जाने को उत्सुक हो गया।

वह बोला—"केवल एक प्रार्थना—"

"कहता क्यों नहीं ?"

"मेरा मन अब सीकरी को राजनगरी बनाना चाहता है। आपकी कृतज्ञता प्रदर्शित करने के लिये एक अचल स्मृति बनाना चाहता हूँ कि आगामी पीढ़ियों पर प्रकट रहे, अकबर कितना ऋणी था आपका।"

"मेरी बात याद है न ?"

"हाँ। पंजाब और राजपूताना जीत चुका हूँ। अब गुजरात और बंगाल की बारी है—इसके बाद फिर दक्षिण। सारे भारत की जब राजनीतिक शक्ति मिल जायगी मुझे, फिर आपकी आज्ञा पूर्ण करने में क्या देर लगेगी ?"

"जा, तेरा कल्याण हो।"

अकबर लौट गया, और अपने हर्ष तथा उत्सव में विलीन हो गया !

तीन

त्रकार दसवंत घर पर अपनी चित्रशाला में बैठा हुआ गहरे विचार में विलीन, उठकर घूमने लगा कक्ष में। उसके मन में कल्पनाएँ बड़े वेग से उदित और अस्त हो रही थीं, एक के बाद दूसरी। वह एक केंद्र में स्थिर ही नहीं था। बादशाह अकबर ने उसे स्मृति के पटल पर से हीरा का चित्र बनाकर ले आने की आज्ञा दी है।

महाराजिन ने प्रवेश कर कहा—"भोजन कर लो न, ठंडा हुआ जा रहा है।"

"उन्हें खिला दो पहले।"

"आपसे पहले उन्होंने कभी नहीं खाया।"

"चलो, मैं आता हूँ।"

दसवंत ने अभी तक विवाह नहीं किया था। नारी के प्रति उसके इस विराग का कारण कोई नहीं जानता। कुछ लोग कहते हैं, कलाकार की प्रकृति उच्छृंखलता पसंद करती है। वह किसी का बंधन चाहती नहीं।

दसवंत एक दिन कहता था, नारी मनुष्य का एक प्रधान पूरक अंग है। उसके बिना उसके सारे श्रम अधूरे रहते हैं।

विवाह नहीं किया, तो क्या इसका अर्थ है कि मुझे नारी से घृणा है।

अकबर की राजसभा के कूटज्ञ कहते हैं, दसवंत अपनी चित्रशाला में वेश्याओं के चित्र खींचता रहता है। घर में भी कभी-कभी रख लेता है।

दसवंत भोजन करने बैठा। महाराजिन उसे परोसने लगी। वह दूसरी स्त्री निकट ही एक आसन पर बैठ गई।

दसवंत ने उसका नाम रक्खा है रागिनी। बहुत दिनों से यह दसवंत के यहाँ आती थी। अब कुछ महीनों से उसी के यहाँ आकर रहने लगी है। बाहर किसी के सामने नहीं निकलती। असूर्यंपश्या-सी होकर ही रहती है अब।

रागिनी गाने-बजाने में बड़ी प्रवीण है। पर वह चित्रकार के यहाँ आकर कभी गाती-बजाती नहीं। कुछ दिन उसने आचार्य तानसेन के पास भी संगीत की शिक्षा पाई है। बड़ी बुद्धिमती युवती है वह। रूप में जितनी सुंदर, मानसिक विकास भी उच्च कोटि का। वस्त्र और अलंकार मानो उसके संस्पर्श से खिल उठते हैं।

"रागिनी! बाहर साधन अलग-अलग हैं, चित्रकारी और संगीत, इन दोनो कलाओं के, पर भीतर जाकर ये दोनो एक ही केंद्र से उद्भूत होती हैं। तुम गीत से थककर अब रूप की शरण हुई हो। मैं निस्संदेह तुम्हें चित्रकला का रहस्य दूँगा।"

"आपका जब पहला भीति-चित्र मैंने देखा, उसी ने मुझे आपकी ओर खींच लिया था। मैं परिश्रम और धीर मनोयोग से यह कला सीखना चाहती हूँ।"

"रागिनी ! सम्राट् अकबर ने मुझे हीरा का चित्र बनाकर लाने की आज्ञा दी है।"

महाराजिन ने पूछा—"कौन हीरा ?"

"तुम अभी नई ही हो इस राजनगरी में, धीरे-धीरे जान लोगी सब कुछ। हीरा जोधबाई की एक सहचरी थी, जो उसके मनमाने अत्याचार से पीड़ित होकर न-जाने कहाँ चल दी। तुम्हें मैं दक्षिण की यात्रा से अपने साथ लाया हूँ, असहाय पाकर। चाकरानी की भाँति नहीं रक्खा है मैंने तुम्हें यहाँ। इन विग्रहों में पड़ने की कोई आवश्यकता नहीं। सुख-पूर्वक जैसा हमें खिलाती हो, वैसा ही खाओ-पिओ, और चैन करो।"

"मुझे किसी से कोई मतलब नहीं। घर के काम-काज के बाद जो भी अवकाश मिलता है, मैं उस में माला लेकर हरि का नाम स्मरण करती हूँ।"

"यही शोभा है इस अवस्था की।" दसवंत ने कहा।

"कोई भी नहीं है तुम्हारे ?" रागिनी ने पूछा।

"नहीं" कहना अन्याय होगा। तुम दोनो तो हो ! जिस बरताव से तुमने मुझे यहाँ रक्खा है, उसमें किसी मित्र-संबंधी का अभाव खटकता ही नहीं। उस उपकार के सामने

मेरी जो कुछ भी सेवा है, तुच्छ प्रतीत होती है।" महाराजिन ने प्रत्युत्तर में कहा।

दसवंत के भोजन कर लेने के उपरांत रागिनी और महाराजिन, दोनो नें साथ-साथ भोजन किया।

बहुत सावधानी से चित्रकार ने रागिनी को अपने यहाँ छिपा रक्खा था। नगर के बीच में ही वह रहता था, मध्यम श्रेणी के लोगों के साथ। दरबार से एक कोठी मिली हुई थी उसे दरबारियों के निकट ही, पर वहाँ छोड़ आया था वह।

महाराज के एकांत के सहचरों में उसे देखकर जनता उसका बड़ा आदर करती थी। डरता कोई भी न था उससे, चाटुकार न था वह। अधिक अपने ही काम से मतलब रक्खता था। पास-पड़ोस में कहीं न जाता, न किसी से कुछ बोलता ही।

चित्रकार अपनी चित्रशाला में आकर राजाज्ञा का स्मरण करने लगा। उसने कुछ चित्र-फलकों पर अपनी दृष्टि की—अधूरी-अधूरी बहुत हलकी रेखाएँ अंकित कर रक्खी थीं उसने उन पर तूलिका से। केवल रमणी का ही मुख-भाग बना था उन सब पर। मन-ही-मन उसने कहा—"नहीं!" एक चित्र उठाकर उस पर तूलिका चलाने लगा। एक-दो रेखाएँ खींचकर फिर उसे अलग रख दिया—"सत्य अंकित कर सकता हूँ अत्यंत सरलता से, पर न-जाने कौन-सा भय है, प्रकट करने नहीं देता। केवल कल्पना से भी काम नहीं लेना

चाहता। सम्राट् की दृष्टि बड़ी पैनी है। सत्य और कल्पना, इन दोनो के बीच में कहीं कोई आकृति ढूँढ़ रहा हूँ, नहीं मिलती !"

महरी ने पिछवाड़े से आवाज़ दी। रागिनी चित्रशाला में दौड़ आई। चित्रकार ने द्वार बंद कर दिए।

"फिर कौन-सा चित्र सम्राट् को देने का विचार है तुम्हारा ? अब तो कई दिन हो गए ! दरबार से निश्चय ही कोई तुम्हें बुलाने आता होगा।"

"देखा जायगा रागिनी ! केवल अधूरा कलाकार ही राजा के आश्रय का भूखा है। हम किसी ग्राम में चले जायँगे। वहाँ नग्न प्रकृति में नियम स्पष्ट ही दिखाई देगा। वहाँ इस प्रकार सत्य को कल्पना से ढककर हम भ्रमित न हो सकेंगे।"

"ग्राम में जाकर क्या करना है। मुझे तो नगर ही पसंद है।"

"मुझे उस दक्षिणी गुफा के साधक-कलाकार की बात याद आती है। उसने मुझसे कहा था, कला का चरम उद्देश्य शून्य-साधना है।"

"शून्य-साधना क्या हुई ?"

"मैंने भी उनसे पूछा था, नहीं बताई उन्होंने। कहने लगे, समय चाहिए इसके समझने को।"

"फिर तुम समझकर ही क्यों नहीं लौटे वहाँ से ?"

"वह फिर मिला ही नहीं मुझे। बहुत ढूँढ़ा उसे, कहीं कुछ भी पता नहीं चला मुझे। उस गुफा के निकट का एक ग्रामवासी कहता था कभी-कभी वहाँ अक्सर कोई ऐसे मनुष्य दिखाई दे जाते हैं। ऐसी सुंदर कला प्रकट है वहाँ, क्या कहूँ तुमसे। एकदम देवताओं की सृष्टि, स्वर्गीय!"

"कोई भी नहीं रहता वहाँ?"

"बिलकुल उजाड़। वहीं जान पड़ता है, कला का उद्देश्य निम्न वासनाओं की वस्तु नहीं है। वह राजदरबार के लिये नहीं है। वह श्रीमानों के मनोरंजन को नहीं है। वह है विशुद्ध एकांत की साधना भी, सिद्ध भी! धन और कीर्ति है क्या चीज़?"

"इतने सुंदर कला की वह परंपरा क्यों लोप हो गई?"

"नारी का बहिष्कार किया था जान पड़ता है उन्होंने।"

"क्या उनकी कला में भी नारी प्रतिष्ठित नहीं?"

"कला में है, उसी के दर्शन कर तो मेरे समस्त विचार बदल गए।"

"कोई पूजा करने भी नहीं जाता वहाँ?"

"मुझे कोई चिह्न नहीं मिला। स्वयं चकित हूँ, मैं ही वहाँ किस प्रकार पहुँच गया।"

"शिष्य भी उस कला को रक्षित न रख सके!"

"मैं उसे कुछ ही पीढ़ियों की रचना मानता हूँ। परंतु कला की परंपरा को प्रस्तुत कला भी आगे बढ़ा देती है।

उन गुफा-मंदिरों को देखकर मेरे मन में यही विचार उठता था कि छेनी और हथौड़ा लेकर मैं भी शेष गिरि-खंडों में मूर्ति-निर्माण करूँ। मूर्तिकारी में घनत्व प्रत्यक्ष होता है, चित्रकारी में केवल उसकी कल्पना।"

"कितने दिनों में सिखा दोगे तुम मुझे यह रहस्य ?"

"कला की परिधि के भीतर समय की नाप कुछ अद्भुत है। वह तुम्हारी अनुराग की पिपासा पर निर्भर है। क्या तुम्हें इस कला से प्रेम हो गया ! तुम्हारे संगीत से नर और पशु, दोनो को मोहित होते हुए मैंने देखा है।"

"गाते-गाते मैं मन के भीतर कुछ स्वप्न देखने लगती थी। स्वर उन्हें प्रकट नहीं कर सके, गीत भी नहीं। हाथ जैसे उन्हें धरती पर उतारकर रख देंगे, ऐसा विश्वास करती हूँ।"

"मैं जो कुछ जानता हूँ, वह सिखाऊँगा तुम्हें। पर तुम मुझे एक पथिक ही समझो, जो बार-बार मार्ग-च्युत ही रहता है। रागिनी, तुम समझ की अद्भुत हो। जब से तुम्हें देखा, कला की पिपासा प्राणों में तड़प उठी ! कभी-कभी समझने लगता हूँ, कदाचित् केवल नारी ही कला है। वह अरूप रूपवती, जिसका क्षेत्र बाहर नहीं, भीतर है।" दसवंत भाव के अतिरेक में नृत्य-सा करने लगा।

"तुम्हारा यही पागलपन मुझे प्रिय हो उठा। और मैं तुम्हें छिपकर देखने लगी।"

"भीति पर तूलिका रक्खे, कोणों में घूमते हुए मैं चित्रांकन के मिस तुम्हारे ही दर्शन करता था। पर तुमने अपने हृदय की थाह दी नहीं रागिनी !" दसवंत गंभीर हो गया।

"सच ही कहती हूँ, जब मैं कहती हूँ कि मैं एक चारण पिता की कन्या हूँ।"

"माता भी क्या चारणी थी ?"

"दसवंत ! तुम न-जाने कैसे प्रश्न करने लगते हो। मैंने तुम्हारे अवगुणों को भी प्रिय दृष्टि से देखा है। मुझे क्या मालूम, कौन थी मेरी माता। बहुत छोटेपन में मुझे दोनो का वियोग सहन करना पड़ा कि याद भी उनकी बिलकुल धूसर और टुकड़े-टुकड़े है।"

"बड़ी परिष्कृत रुचि और बड़े स्पष्ट विचार हैं, तुम्हारे। अच्छी संगति में तुम्हारी शिक्षा-दीक्षा हुई जान पड़ती है।"

"उस विंध्याचल के पगले उदासगिरि के यहाँ मैं बड़ी हुई। उसने मुझे गीत सिखाए, और मैं उसके एकतारे पर महाभारत और रामायण गाती हुई निकट के ग्रामों से अन्न उघा लाती थी। यह भी मैं तुमसे सविस्तर कह चुकी हूँ। जो स्वयं मुझसे ही छिपा है, वह तुम पर कैसे प्रकट करूँ।"

"यह चित्र कैसे पूरा करूँ, रागिनी !"

"मैं कैसे बताऊँ। देखो चित्रकार, मेरे भी मान-प्रतिष्ठा है। तुम मुझे कदापि कोई मार्ग पर की नारी न समझना।

मैंने तुम्हारे संकेत पर तुम्हें आत्मसमर्पण किया है, सावधानी और न्याय से काम लेना।"

"न-जाने क्या समझने लगी हो रागिनी! क्यों तुम दसवंत को इतना कायर समझने लगीं?"

इसी समय महाराजिन ने धीरे-धीरे द्वार खटखटाए। रागिनी ने उन्हें मुक्त कर दिया। उसने एक चौकी पर पान-तांबूल रख दिए, और एक थाली में कुछ नारंगियाँ ले आई। एक कोने पर रक्खे हुए धूपदान के पास गई। उस पर हाथ रखकर कहा—"बिलकुल शीतल है।"

दसवंत ने कहा—"हाँ मा, इसमें नवीन धूप-शिखा उठा दो। उन नाच करती हुई धूम-बालाओं के साथ कभी-कभी मेरा मन भी नाच उठता है।"

धूपदान में सुवासित धूप की शिखाएँ उठा लाई, उसके स्थान में रखकर महाराजिन सौदा ख़रीदने के लिये बाज़ार चली गई।

द्वार बंद कर रागिनी कहने लगी—"उदासगिरि के यहाँ मेरे जीवन के जितने दिन बीते, वे बड़े सुखमय थे। उस साधु की कुटी में जो रूखा-सूखा भिक्षान्न मैं खाती थी, बड़ा तृप्तिकर था। आचार्य तानसेन ने मेरे लिये राजभवनों के द्वार खोल दिए, और मेरा जीवन व्यथा से भर गया।"

"कहाँ परिचय हुआ तुम्हारा तानसेन से?"

"उदासगिरि के स्वर्ग सिधारने पर एक दिन जब मैं गाती

हुई भिक्षा एकत्र कर रही थी, उन्होंने मुझे सुना, और कहने लगे, "मैं तुम्हें संगीत की शिक्षा दूँगा। तुम्हारे कंठ में रस है। बड़ा दुर्दिन हुआ वह। मैं भगवान् का यश गाती थी, मुझे श्रीमानों के गीत गाने पड़े। चित्रकार! कुछ ऐसी बात नहीं कर सकते, जिससे मैं भूल जाऊँ वे सब गीत! उनको दुहराना छोड़ दिया, फिर भी वे भूले नहीं गए अब तक।"

"मैं भी उकता गया हूँ इन राजभवनों की प्राचीरों को रँगते रँगते। चलो, उन्हीं गुफाओं में रहकर हम उस क्रम को आगे बढ़ावें। भय केवल अपने ही मन की कल्पना है। हो तुम तैयार? वह एकांत हमारी शक्तियों को शीघ्र ही विकसित कर देगा।"

"खायँगे क्या?"

"वहाँ के कलाकारों ने भी तो कुछ खाया ही होगा। जंगल में अनेक प्रकार के कंद-मूल होंगे। उन्हीं पर जीवन धारण कर लेंगे।"

"रंग? ये बहुमूल्य प्राचीर-फलक! ये कानाफूसियों, रस-गीतों, झंकृत चापों से ध्वनित-प्रतिध्वनित राजसदन के पथ और प्रकोष्ठ, ये कहाँ से लाओगे चित्रकार!"

"कला में माध्यम कोई वस्तु ही नहीं है—वह केवल एक संयोग और एक साक्षी है। मैं तूलिका और रंग, दोनो का त्याग कर दूँगा। मैं मूर्तिकार हो जाऊँगा। मैं प्रकृति के ही संसर्ग से तृप्त हो जाऊँगा। साथ दोगी?"

"तुम कैसे विचार करने लगे चित्रकार !"

"खायँगे क्या वहाँ ? ऋतु और जंगली जंतुओं की दंत कैसे सहन करेंगे ?"

"जीभ का स्वाद जीत लेने में वह स्थान सहायक होगा, विना रसना को विजित किए कल्पना का कमल खिल न सकेगा।"

"नीरस और कच्ची वनस्पति खाना भी क्या रसना की विजय है ? तुम जाओ चित्रकार।"

"और तुम ?"

"अपनी जन्मभूमि में जाकर फिर एक हाथ में एकतारा और दूसरे में झोली धारण कर लूँगी।"

"तुम्हें नहीं छोड़ सकता।"

"प्रतिज्ञा-बद्ध तो नहीं हो।"

"नैतिकता बाध्य करती है। तुम्हीं तो मेरी कल्पना हो, ज्योति के साथ की छाया ! जागरण की सहचरी निशा !"

"सम्राट् की अनुरक्ति है तुम्हारी कला में। फिर तुम्हें क्यों विराग हो गया इस राजनगरी से ?"

"नहीं है उसे अधिक विश्वास मेरी कला का। होता, यदि कुछ चाटुकार न होते उसकी राजसभा में।"

"किसी का नाम भी तो सुनूँ उनमें से।"

"पंडित बीरबल सबके आगे।"

"पंडित बीरबल ?"

"हाँ, वही। बड़ा वेदज्ञ और मंत्र-तंत्र-शास्त्री बना हुआ फिरता है। अपनी उपासना को बड़ी भारी उपासना समझता है, और मेरी यह कला की साधना, इसको कोई महत्त्व नहीं देता। सम्राट् को बड़ा सूर्योपासना का तत्त्व समझानेवाला बना है। रागिनी! तुमसे सच कहता हूँ, यह भेद मैंने दिया था सबसे पहले उन्हें।"

"मैंने तो बीरबल को सच्चा, दयालु और दानी समझा है।"

"एक चाटुकार—झूठा, निर्दय और लोभी। ब्राह्मण के कुल में उत्पन्न हो जाने से संसार के समस्त सद्गुणों का अधिकारी समझता है अपने को। हम निम्न वर्ण के; हम त्याग, तपस्या, सत्य, साधना, किसी वस्तु से ऊँचे नहीं उठ सकते!"

"महाराजिन का आज न्योता है, बीरबल महाराज की रानी के यहाँ।"

"बीरबल की रानी के यहाँ! वह गई है वहाँ?"

"हाँ।"

"मुझसे नहीं पूछा!"

"मुझसे तो कह गई है। किसी व्रत का उद्यापन करनेवाली है वह आज। नगर के अधिकांश ब्राह्मणों को निमंत्रित किया है उन्होंने।"

"नहीं जाने देना था तुम्हें।"

"क्यों ?"

"हमारा भेद दे आवेगी।"

"नहीं, इतनी मूर्खा नहीं है वह।"

"बीरबल तो है बड़ा कूट-बुद्धि।"

"मैंने समझा, ब्राह्मणी निर्धन है। कुछ दान-प्राप्ति हो जायगी बेचारी को।"

"किसी प्रकार अब भविष्य में न जाने देना रागिनी! यह हमारा अपमान है। हम उस ब्राह्मणी को और भी सुख से रक्खेंगे। क्या अभाव है उसको हमारे यहाँ?" दसवंत ने सिर खुजलाते हुए एक चित्र उठाया। "ठीक है यह चित्र। कुछ फूल-पत्ते और बनाकर इससे सम्राट् का ध्यान बहका दिया जा सकेगा।"

बाहर से किसी ने पुकारा—"दसवंतजी! दसवंतजी!" चित्रकार ने रागिनी को भीतर जाकर छिप जाने का संकेत दिया, और स्वयं द्वार खोलने को बढ़ा।

दसवंत ने देखा, कंधे पर वीणा लिए आचार्य तानसेन खड़े हैं। आदर-पूर्वक हाथ जोड़कर उसने स्वागत किया उनका।

रागिनी पक्ष पर के ही एक शयन-कक्ष के द्वार बंद कर उसमें सो गई। उसके मन में विचार आने लगे—"क्यों ऐसा जीवन बिता देने को बाध्य हुई मैं? मैं सूर्य की किरणों में खिली हुई कन्या—मुझे क्यों यह ओट पसंद हुई!"

तानसेन का आगमन पहचानने में उसे देर न लगी। "आज बहुत दिनों बाद आए आचार्य। बहुत पैनी इनकी श्रुति है, मैं भी तो उतनी ही निष्पंद हूँ।" वह मनोयोग-पूर्वक उनकी बातें सुनने लगी।

उन्हें सबसे श्रेष्ठ आसन देकर दसवंत उनके चरणों के पास बैठने लगा।

तानसेनजी को यह असह्य हुआ—"नहीं, दसवंतजी हम दोनो समान हैं। एक नाद का अनुसंधानकारी है, तो दूसरा रूप का। रह गई जन्म के वर्ण की, मैं नहीं मानता उसे।"

"आज बड़े अंतर पर आपका दर्शन-सौभाग्य मिला है। सम्राट् के मन में तो अब आजकल वह सीकरी का संत ही समाया हुआ है। सुना है, रातों को सोता नहीं, वही सीकरी-सीकरी ही कहता है। जब से उस महात्मा का वरदान सत्य हुआ है, तब से तो यह भक्ति चरम सीमा को पहुँच गई है।"

आचार्य के मुख पर मंद मुसकान प्रकटी।

"आप भी तो गए थे उनके दर्शन को।"

"हाँ।"

"बात क्या है?"

"क्या बताऊँ दसवंतजी! विश्वास सबसे बलवान् वस्तु है।"

"कोई चमत्कार नहीं दिखाया उसने आपको?"

"होगा चमत्कार। पर मैंने कुछ नहीं देखा। किसी की निंदा करने से हमें क्या लाभ! महात्माजी निस्संदेह उच्च कोटि के हैं।"

"परंतु आचार्य महोदय! सम्राट् के चपल मानस में कोई प्रतिमा ठहर नहीं सकती अधिक दिन।"

तानसेन ने कहा—"आप नहीं गए कभी वहाँ?"

"कहाँ से? अवकाश किसे है? स्मृति से हीरा का चित्र बनाने की राजाज्ञा हुई है।"

"सीकरी अब वह भयानक निर्जन कहाँ रही। रात-दिन वहाँ राज-मज़दूर काम कर रहे हैं। सम्राट् ने आज ही मुझसे कहा है कि वह वहाँ राजनगरी ही बसा देंगे।

"किसलिये?"

"उस महात्मा की कृतज्ञता स्वीकार करने को एक स्मृति।"

"या उस महात्मा की साधना को चौपट कर देने के लिये सबसे बड़ी बाधा!"

"जन और निर्जन का भेद शिष्यों के लिये है दसवंतजी। महात्मागणों को वह अधिक नहीं व्यापता होगा।" तानसेनजी ने चित्रों की ओर देखकर कहा—"यह हीरा के ही चित्र हैं?" एक चित्र को उठाकर वह देखने लगे।

भीतर रागिनी समझने लगी, जैसे तानसेनजी बंद द्वार मुक्त कर उसके चौर एकांत में आ गए!

दसवंत ने उत्कंठा के साथ पूछा—"दिखाई दे रही है हीरा किसी में ?"

तानसेन ने नीरव रहकर सब चित्रों को देखा।

"क्यों आचार्य !" दसवंत ने फिर पूछा।

"अभी तो ये सब अधूरे हैं।"

"आप उसे बहुत अच्छी तरह जानते हैं। आप ही के कहने पर तो वह यहां आई थी।"

हाँ, लड़की अच्छी थी। बड़ी तीव्रबुद्धि। न-जाने क्यों राजभवन में उसका मन नहीं लगा। महारानी तो उस पर संतानवत स्नेह रखती थीं।"

"आजकल कहां की चढ़ाइयों के सामान बँध रहे हैं ?"

"गुजरात की। पर हम तो शांति के सहचर हैं। हमें समर और विग्रह से क्या काम ?"

"हैं आचार्य। क्योंकि हम राजा पर आश्रित हैं। भले ही हम शस्त्र धारण न करते हों। गुजरात के इस समय टुकड़े हैं। वे आपस के कलह में ही विनष्ट सरदारों के दुर्बल हाथों में हैं। वह नाम-मात्र का गुजरात का राजा, उसे विजित करते कुछ देर न लगेगी। फिर बंगाल और उसके बाद विंध्यगिरि के पार दक्षिण, क्यों आचार्य !"

आचार्य ने शब्दों में कुछ नहीं कहा।

"यह समस्त आर्यावर्त एक विदेशी के दुर्दांत चरणों पर विनत होगा। उसके कोई भी धर्म नहीं, कोई आचार नहीं,

कोई संस्कृति नहीं। वह समस्त भारत के विश्वास को भी अपनी संकरता से गँदला कर देगा। हा भगवान्! भारत की कला यदि आज जीवित होती, तो क्या यह दशा होती? जिसका जी चाहा, वह उसकी श्री, संस्कृति और शांति को कुचलता हुआ बढ़ा चला आता है।" दसवंत ने आचार्य की सेवा में कुछ हरे और सूखे मेवे रक्खे।

तानसेन ने कहा—"आज व्रत है मेरा सूर्य का।"

"यह तो फलाहार है।"

"नहीं।"

"तो क्या शर्बत भी न पिएँगे?"

"जल ही ग्रहण करता हूँ केवल। वही थोड़ा-सा पिला दीजिए।"

"महाराजिन बाहर गई हैं, मैं स्वयं आपकी सेवा करूँगा।" दसवंत भीतर गए जल लेने के लिये।

तानसेन ने फिर एक बार हीरा के चित्रों को देखने के लिये हाथ बढ़ाया। अचानक उनकी दृष्टि एक चूड़ी के टुकड़े पर पड़ी। वह कुछ विचार में पड़ गए।

दसवंत ने जल के पात्रों की थाली तानसेन के समीप रक्खी।

तानसेन ने उस चूड़ी के टुकड़े की ओर संकेत कर पूछा—"क्या है यह?"

"चूड़ी का टुकड़ा।"

"किसका दसवंतजी ! आप तो अविवाहित हैं।"

बिना विचारे ही चित्रकार ने उत्तर दिया—"महाराजिन का होगा।"

"वह तो विधवा हैं।"

"तब फिर किसी और का होगा।"

"कौन और ?" उत्सुकता से आचार्य ने पूछा।

"कोई नारी।"

तानसेनजी ने वीणा पर हाथ रक्खा।

हाँ आचार्य, नारी। कल्पना में कुछ और वास्तविकता में कुछ और होना कलाकार का आदर्श नहीं। जगत् और विचार का समन्वय ही उसका उद्देश्य है। मेरे अंतर में एक नारी है आचार्य ! आपके भी होगी।"

आचार्य चकराए।

दसवंत कहता जा रहा था—"उस भीतरी नारी की पूर्णता सिद्ध करने के लिये मुझे भौतिक नारी प्रतिष्ठित करनी पड़ती है सामने—पूजक की प्रतिमा की भाँति। आप मूर्ति-पूजक हैं। और हाँ, सुना है, हमारे सम्राट् भी अब मूर्ति-पूजा आरंभ करेंगे। पंडित बीरबल उनको दीक्षा देंगे।"

जल पीकर तानसेन ने कुछ विचारकर कहा—"नारी है दसवंतजी, वाम पार्श्व में यही चंद्र-नाड़ी है। अल्प प्रयुक्त कोमल और अबल भाग। क्या किसी से कुंडलिनी-जागरण की शिक्षा पाई है आपने ?"

"नहीं, शिक्षा नहीं पाई। सत्य निरंतर चेष्टा करनेवाले मन में स्वयं भी प्रकट हो जाता है। सुना है अवश्य मैंने, बहुत-से विद्वानों के निकट।"

"पर उसके लिये गुरु की नितांत आवश्यकता है।"

"मैं आपका शिष्यत्व ग्रहण करने के लिये तैयार हूँ। आप देंगे मुझे दीक्षा?"

"मैं कहाँ इस योग्य हूँ।" बड़ी नम्रता के साथ तानसेन ने कहा।

"मैंने सुना है, आपने नाद की सहायता से उस नाड़ी को जगाया है।"

तानसेन ने हँसते हुए कहा—"और, मैंने तो यह सुना है, आपने दक्षिण-यात्रा में किसी महायान के साधक से दीक्षा पाई है। उसने आपको विंदु-त्राटक सिखाया है।"

दसवंत ने भी आश्चर्य की हँसी के साथ कहा—"इच्छा थी ऐसी आचार्य, परंतु कोई जानकार साधक मिला नहीं। जो भी मिला, पाखंडी—बातों में अधिक, प्रयोग में कम।"

पर आचार्य को विश्वास नहीं हुआ। वह समझने लगे कि दसवंत तत्त्व को छिपा रहा है। उन्होंने कहा—"दसवंतजी, सुनता हूँ, यह तत्त्व जितना छिपाकर रक्खा जाता है, उतना शीघ्र फलप्रद होता है।"

"परंतु मैं छिपा देने के पक्ष में नहीं। छिपा देने से हमारा

आत्मिक बल नहीं बढ़ता। मन, वचन और कर्म के इन तीनों धरातलों की एकता वांछनीय है।"

भीतर रागिनी यह सुनकर अपने मन में कहने लगी—"तो क्या यह चित्रकार मुझे छिपाकर न रख सकेगा अधिक दिन, या इसे लक्ष्य की प्राप्ति न होगी?"

कुछ देर और भी बातें कर तानसेनजी बिदा हुए। महाराजिन के लौट आने तक दसवंत ने हीरा के एक चित्र पर कुछ और कल्पना प्रकट की। रागिनी अपने कारागृह से मुक्त होकर, चित्रकार के पास आकर बैठ गई थी।

"रागिनी, कलाकार विजेता से बड़ा है। मैं उस सम्राट् की आँखों में धूल डाल दूँगा। चित्र तैयार हो गया!"

रागिनी ने मंद मुसकान के साथ चित्रकार को बिदा किया। दसवंत हीरा का चित्र लेकर अकबर की सेवा में जा पहुँचा।

अकबर ने चित्र का निरीक्षण कर कहा—"नहीं चित्रकार, तिल-भर भी तो यह चित्र हीरा के अनुरूप नहीं है।"

"मैंने बड़े परिश्रम से इसे अंकित किया है।"

"केवल परिश्रम ही से क्या होता है। दक्षता दूसरी ही वस्तु है।"

"और भी कुछ लोगों से पूछ लीजिए इसे दिखाकर, महारानीजी की भी राय ले लीजिए।"

"मैं क्या किसी को दिखाऊँ। क्या अकबर स्वयं आँख नहीं रखता ?"

"महाराज, स्मृति से यह चित्र बनाया है। आप स्वयं कला को खूब समझते हैं। केवल स्मृति की सहायता से बनाना कितना कठिन है।"

"यही तो चित्रकार की कसौटी है। देखकर चित्र बनानेवाला तो केवल प्रतिलिपिकार है। फिर याद करो, और फिर परिश्रम करो।"

"इससे अच्छा अब और कुछ नहीं बन सकता महाराज !" कुछ दृढ़ होकर दसवंत ने सम्राट् की अवज्ञा की।

सम्राट् को बात बहुत बुरी लगी—"समझकर ही कहा तुमने यह ?"

"हाँ महाराज।"

"तो दसवंत, नहीं है मेरी राजसभा में ऐसे चित्रकार के लिये स्थान।"

दसवंत भी कुछ आत्माभिमान से भर उठा—"जैसी भी इच्छा है फिर महाराज की।"

"अभी इसी समय चले जाओ। यदि हीरा का ठीक-ठीक चित्र न बना सको, तो दरबार में आने का कभी कष्ट न करना।"

दसवंत अभिवादन कर निष्क्रांत हुआ।

चार

सलीमा ने कहा—"सम्राट् ! हृदय आपका रहता है जोधबाई के प्रासाद में, कोरी बातें बनाने के लिये आप आते हैं यहाँ।"

"कदाचित् तुमने यह बात बिना सोचे-समझे ही मुँह से निकाल दी सलीमा।"

"मेरे पास इसकी साक्षी है महाराज। सम्राट् के सामने निराधार बात करूँगी क्यों ?"

"क्या साक्षी है ?"

"कहती हूँ, सुनिए।"

अकबर अधीर हो उठा।

सलीमा ने आरंभ किया—"इसमें कोई संदेह नहीं महाराज, आपने राजमहल की सभी मुख्य-मुख्य रानियों को सुख-भोग के समान उपकरण दे रक्खे हैं। उनको विचार की स्वतंत्रता दे रक्खी है कि वे चाहे जिस भाव और प्रकार से भगवान् की याद करें। उनकी जो कुछ भी उचित कामनाएँ होती हैं, उन्हें आप बड़ी उदारता-पूवक पूरा करते हैं।"

"बड़ी लंबी भूमिका की आवश्यकता क्या है रानी !"

"आपने जोधबाई के लिये पुत्र का वरदान प्राप्त किया।"

"उसके विश्वास और भक्ति से ही उसे वह फलदायक हुआ। तुम भूलती हो रानी! मैंने तुमसे भी कहा था, पर तुम उस महात्मा की महत्ता पर कभी आकृष्ट ही नहीं हुईं।"

"अब हूँ।"

"महात्मा के एक पुत्र की अभी हाल ही में मृत्यु हो गई है, संतान का वियोग बड़ी दुःखदायी वस्तु है। फिर यह चोट उनकी बिलकुल नई है। अभी उनके पास दूसरे पुत्र के आशीर्वाद के लिये जाना—"

"वह कैसे महात्मा हैं फिर?"

"भगवान् से सच्चे भाव से प्रार्थना करो। तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो जायगी।"

"देखिए महाराज, हिंदू और मुसलमान, ये दोनो आपकी दो आँखें हैं। एक को अधिक महत्त्व दे देने से आपके राज्य का संतुलन खो जायगा।"

"मैं इन दोनो की एकता साध रहा हूँ रानी! यह राज्य, यह सेना, यह परिषद्, ये सब उसी के उपकरण हैं। पर कभी जब मैं विचार करता हूँ, तो उन दोनो धर्मों के भीतर भी स्वयं एक में ही भिन्नता पाता हूँ। इसलिये सोचता हूँ मैं कभी-कभी कि एक धर्म होना भी एकता का स्वरूप नहीं है। जो कुछ भी हो, मैं पहले उनमें अलग-अलग साम्य लाकर फिर दोनो को एक में बट दूँगा। फिर देखना, संसार के किस राष्ट्र की शक्ति है, जो उस शृंखला को छिन्न-भिन्न

करसके उस मैत्री पर जिस साहित्य, कला, समाज और इतिहास की सर्जना होगी, जगत् उसका अनुकरण करेगा।"

"पर पहले मेरे लिये भी पुत्र का आशीर्वाद लाना होगा। यही न्याय है। राजमहल के भीतर ही अगर आपकी हिंदू और मुसलमान रानी के अधिकारों में अंतर रहेगा, तो प्रजा को क्या आदर्श मिलेगा। आप सफल न हो सकेंगे अपने उद्देश्य में।"

अकबर के मुख से एकाएक निकला—"महात्माजी का वह दूसरा लड़का भी मर जायगा। प्रायः साल-भर से बीमारी बढ़ती ही चली जा रही है उसकी।"

सलीमा सम्राट् के कथन पर कुछ भी ध्यान न देकर अपने प्रवाह में कहने लगी—"मैं जोधबाई से आयु में कहीं अधिक हूँ। उससे पहले आपके अंतःपुर में आई हूँ। मेरे पहले पति के भी ऋण हैं आप पर। उन्होंने, जब आप प्रत्येक प्रकार से दुर्बल थे, चारो ओर के शत्रुओं से आपकी और आपके राज्य की रक्षा की थी।"

"तो क्या मैंने उनके प्रति कहीं अनुचित बर्ताव किया?"

"नहीं, यह नहीं कहती मैं। सुनिए, जब से जोधबाई के पुत्र उत्पन्न हुआ है, उसकी हिंदू दासियाँ मेरी दासियों को बड़ी घृणा की दृष्टि से देखती हैं।"

"क्या कुछ कहती हैं वे?"

"कहतीं कुछ नहीं, पर ऐसे भाव की श्रेष्ठता दिखाती हैं कि उनकी रानी के महल में युवराज के आविर्भाव से नित्य ही उत्सव होने लगे हैं।"

"तुम भी नित्य उत्सव मनाओ, तुम्हारे क्या कमी है। तुम यहाँ इस राजनगरी में हो, वह बेचारी तो जंगल में रहती है।"

"मैं भी वहीं रहना चाहती हूँ। मेरे लिये भी वहीं महल बनवा दीजिए। वहाँ रहकर मैं भी उस महात्मा की सेवा करूँगी।"

"अच्छी बात है। मैं आज ही तुम्हारे लिये भी वहाँ प्रासाद बनाने के लिये आज्ञा देता हूँ।"

"और, मेरे लिये पुत्र का वरदान भी माँगना होगा महात्माजी से।"

"इसकी प्रतिज्ञा नहीं करता, चेष्टा करूँगा।"

सलीमा के लिये भी सीकरी में भवन-निर्माण हुआ। और भी अनेक अमीर-उमराव, सरदार-सेनापति, व्यवसायी-व्यापारियों को वहाँ अपने-अपने गृह बनाने की आज्ञा मिली। सीकरी द्रुत पगों से बढ़ चली।

महात्माजी के दूसरे पुत्र की भी मृत्यु हो गई। समाचार सुनकर अकबर उनकी सेवा में गया।

महात्माजी ने प्रसन्न-मन अकबर का स्वागत किया, और आँगन की एक ऊँची दीवार पर चढ़कर अकबर को भी खींच

लिया वहाँ। दूर पर कुछ दिखाकर बोले—"सम्राट्, अब राजभवन यहाँ से भी दिखाई देने लगे। वह देखो, उन दो बरगद के पेड़ों के बीच से।"

"हाँ महाराज, वह हवा-महल का शीर्ष-भाग है।"

"मेरा दूसरा लड़का भी मर गया, इससे तेरा कोई उत्साह भंग नहीं होना चाहिए। तू चाहे जो आनंद-उत्सव कर इस जंगल में। जहाँ तेरी इच्छा हो, भवनों का निर्माण कर।"

"रानी सलीमा की भी यह आंतरिक कामना है कि वह भी यहीं आकर रहे। मैं उसके लिये भी एक प्रासाद बनवा रहा हूँ।"

"रानी सलीमा!" महात्माजी ने कुछ विचार किया—"हाँ, मैं उसे भी पुत्र-प्राप्ति का आशीर्वाद दे चुका हूँ।"

"कब?" साश्चय सम्राट् ने पूछा।

"इधर हाल ही में कभी—एक रात को, स्वप्न में।"

सम्राट् अकबरने महात्माजी की कृपा के लिये दोनो हाथ जोड़े।

"तू नहीं जानता क्या? रानी सलीमा गर्भवती है, उसके पुत्र ही होगा। एक पुत्र और दे सकता हूँ अकबर तुझे, एक ही, उसके बाद फिर न माँगना।"

"आपके प्रताप से मुझे सब कुछ मिला महाराज। आपके इस ऋण की प्रतिशोध न करूँगा, स्मृति के लिये मैं यहाँ एक नगर का निर्माण करना चाहता हूँ। अनुमति मिले।"

"उसका निर्माण हो अकबर। मैं उसे बहुत दिन पहले ही देख चुका हूँ। एक बात है सम्राट् यह सब तेरे ऊपर अजमेर के महात्मा की कृपा है। उन्हीं के आदेश से यह सब हुआ है। तू उनके दर्शन के लिये जाना वहाँ।"

अकबर ने सिर-माथे महात्मा की यह आज्ञा धारण की।

अकबर ने सीकरी में और भी उदारता से भवन-निर्माण में धन-व्यय आरंभ किया। उसने अपना महल बनाने की आज्ञा दी। नगर के बाहर, सात मील के घेरे में, एक रक्षक दीवार बनाई जाने लगी। जल का कष्ट दूर करने के लिये नदी का जल बांधकर एक सुविशाल कृत्रिम सरोवर बनाया जाने लगा।

सलीमा का महल तैयार हुआ। वह दास-दासियों के साथ आकर वहाँ विराजमान हुई। निस्संदेह वह गर्भवती थी। ठीक समय पर उसने अकबर के दूसरे राजकुमार को प्रसव किया। उसका नाम मुराद पड़ा। प्रायः वर्ष-भर बाद फिर सीकरी ने जन्मोत्सव मनाया, पहले से भी अधिक धूमधाम के साथ।

अकबर बड़ी तत्परता से भिन्न-भिन्न धर्मावलंबी रानियों में सद्भाव के लिये चेष्टा करता रहता था। सद्भाव था भी उसकी रानियों—जोधबाई और सलीमा में, कभी कोई पारस्परिक द्वेष-भाव नहीं देखा गया।

वह कहता था—"रानियाँ मेरी भिन्न-भिन्न जातियों की

प्रजा की प्रतिनिधि हैं। यदि मैं महल के भीतर ही हिंदू और मुसलमानों में प्रीति न उपजा सकूँगा, तो क्या बाहर प्राप्त होगी ?"

सीकरी राजधानी घोषित हुई। अनेक मंत्रियों ने प्रार्थना की—"गुजरात की चढ़ाई सामने है, और आपने इस राजधानी को यहाँ से तेईस मील दूर हटा ले जाने का श्रम सामने रख दिया है, यह ठीक नहीं जान पड़ता।"

सम्राट् ने कहा—"आगरा अशकुनमय है। सीकरी के नए भवनों में जाकर नया उत्साह पैदा होगा। वह स्थान मुझे कल्याणकारी हुआ है। गुजरात को जीत लेना चुटकियों का खेल है। मेरे पिता का विजित प्रदेश है, वह। और, सबसे बड़ी बात है, उस महात्मा का आशीर्वाद मिला है मुझे।"

राजा, राजपरिवार और सरदार-सेनापतियों में से मुख्य-मुख्य वहाँ पहले ही चले आए थे। ख़ास-ख़ास राजसभाएँ आगरे ही जाकर होती थीं।

अकबर के शयन-भवन के निकट-पूर्व में जन-सभा के लिये भवन बना, और उत्तर में विशेष-सभा के लिये। सामने ही कार्यालय की इमारत बनी, और आगरे से सब लेख-पत्र लाकर वहाँ रक्खे जाने लगे।

"अब क्या होगा ?" दसवंत ने कहा।

रागिनी बोली—"क्या आगरा बिलकुल रिक्त हो जायगा ?"

"ऐसा तो नहीं कहा जा सकता। लेकिन हमारा यह मुहल्ला उजाड़ हो जायगा। इस तरफ़ वे जो सैनिक-कुटुंब रहते थे, उनको गए अब पूरा वर्ष होता है। इधर जो ज्योतिषीजी रहते हैं, वह भी दो-तीन दिन में चले जायँगे।"

रागिनी ने कहा—"तुम तो कहते थे, वह अभी न जायँगे।"

दसवंत ने उत्तर दिया—"उनके निकट जो प्रतिलिपिकार रहते हैं, उनके लिये कहा था कि वह महाभारत की प्रतिलिपि कर रहे हैं। उसे पूर्ण किए विना न हिलेंगे वहाँ से।"

"वह भी भाग जायँगे।"

"काशी जाने का विचार कैसा है? काशिराज के दरबार में?"

"पहुँच है वहाँ?"

कलाकार परिचायक की ओर नहीं देखता। कला में जो मेरा धार्मिक भाव है, उसका विकास होगा। शुद्ध भारतीय संस्कृति मिलेगी वहाँ।"

"वहाँ क्या करोगे? वह तो अधिक वयस्क हो जाने पर की दिशा है।"

"ऐसी ही चित्रकला भी है।"

"नहीं चित्रकार! मेरा मन नहीं लगता वहाँ। मैं गई थी उदासगिरिजी के साथ। केवल दो ही चार दिन रही, बड़ी कठिनता से।"

"चलो फिर दक्षिण को। वहाँ किसी राजसभा में प्रवेश

मिल ही जायगा, और तुम्हें वहाँ मुक्त प्रकृति में देख सकूँगा।"

"सीकरी ही क्यों नहीं चलते ? तुम कहते थे, वहाँ व्यापारियों ने अनेक घर किराए के लिये भी बनाए हैं।"

"कला का पारखी है अकबर, इसमें संदेह नहीं। इस दुर्दिन में आचार्य तानसेन धन से बराबर मेरी सहायता कर रहे हैं। वह सीकरी से कई बार यहाँ केवल मेरे ही मतलब से आए हैं। उनका भी अनुरोध है वहीं चलने के लिये।"

"तानसेन से धन लेना अपमान-सूचक है।"

"मैंने भिक्षा नहीं की। तुम्हारे ये बहुमूल्य आभूषण मुझे बड़े भयानक ज्ञात होते हैं। नहीं, जीविका के लिये मैं इनका विक्रय न करूँगा नेत्रों का सुख छोड़कर रोटी! रोटी कोई वस्तु नहीं। पत्ते चबाकर भी मनुष्य जीवित रह सकता है"

"पर सम्राट् ने तुम्हें नौकरी से अलग नहीं किया।"

"उसने बुलाने के लिये कोई आदमी भी तो नहीं भेजा। धनागार से कोई मेरा वेतन देने भी तो नहीं आया। गुप्तचरों द्वारा उसे अवश्य मेरी स्थिति-गति का पता होगा।"

"तब फिर क्या ?"

"तुम इस शून्यता से घबराने लगी हो क्या ?"

"मैंने अपने अंतर में शून्यता की पालना की है मुझे यह बाहर की निर्जनता कुछ भी नहीं व्यापती, वह तुम्हें छोड़कर सब-की-सब मेरी ओट में है।"

चित्रकार एकाएक निश्चय कर उठा—'मुझे हीरा का चित्र बनाना ही पड़ेगा रागिनी !"

रागिनी हँस पड़ी—'मैंने तो उसी दिन कह दिया था तुमसे।"

दसवंत—"हाँ; कहा तो था !"

"कितने दिन में बना लोगे ?"

"निश्चय स्थिर होने पर एक ही दिन में।"

"तब फिर क्या कठिनता है ?"

"तुमने अभ्यास के लिये कुछ तूलिकाएँ ले रक्खी हैं मेरी, लाओ तो।"

दसवंत ने इस बार कल्पना की सहायता न लेकर हीरा का चित्र बना लिया। रागिनी को महाराजिन की रक्षा में रखकर वह भी सीकरी चला।

कोई भी उसके मार्ग में बाधक न हुआ। प्रहरी सब उसकी जान-पहचान के थे, और उसके विरुद्ध कोई भी आज्ञा प्रचारित नहीं हुई थी।

युवराज सलीम ने चौथे वर्ष में प्रवेश कर लिया था। जोधबाई के भवन में उस बालक के क्रीड़ा-चपल मंजीर-पगों ने अद्भुत नृत्योल्लास भर दिया। तमाम दासियों के सतर्क नेत्र उसके साथ क्रीड़ा करने और उसकी रक्षा में नियुक्त थे। जोधबाई तो समझती थी, जैसे उसके पूजा-घर का देवता सशरीर होकर आ गया।

जब तक राजकुमार जगा रहता है, एक उत्सव लगा रहता है सारे भवन में। उसके सो जाने पर ही दासियों को अवकाश मिलता है, सिर के जुएँ निकालने और शृंगार करने का।

राजकुमार मुराद सलीम से प्रायः साल-भर छोटा है। दूसरा उत्सव सलीमा के महल में लगा रहता है। वहाँ भी किसी उपकरण की कमी नहीं।

सम्राट् अकबर उन दोनो रानियों के बीच में प्रेम-भावना बढ़ाने के लिये कभी-कभी एक का राजकुमार दूसरी के यहाँ ले जाता है—अपनी ही गोद में, अभ्यर्थना के लिये चारो ओर से दासियों से घिरा हुआ। और किसी को ऐसी आज्ञा न थी। या तो फिर रानियाँ ही अपने साथ ले जातीं।

दसवंत को अकबर जन-सभा में नहीं मिला, विशेष-सभा में भी नहीं, अपने शयन-भवन में भी नहीं, दफ़्तरख़ाने में भी नहीं। प्रहरियों ने कहा—बाहर कहीं नहीं गए हैं। अपने अंतःपुर में ही होंगे। बहुत संभव है, महारानी जोधबाई के ही महल में।"

बहुत दिनों का रक्षित वह रहस्य सम्राट् के सामने खुल पड़ने के लिये छटपटा उठा।

अंतःपुर के मुख्य द्वार के प्रहरी ने कहा—"नहीं, वहाँ जाने की आज्ञा नहीं।"

"तुम तो पहचानते हो मुझे। मैं इन नए राजमहलों की दीवारों में चित्र अंकित करने आया हूँ।"

प्रहरी ने एक दासी को, जो पास ही भीतर जा रही थी, बुलाकर कहा—"महाराज के पास समाचार भेज दो कि चित्रकार दसवंत आए हैं।"

सम्राट् सलीम और मुराद को लेकर खेल रहा था महारानी जोधबाई के प्रांगण में। दासी ने दसवंत का आगमन सुनाया।

अकबर एकाएक हर्ष से पुलकित हो गया। उसने मुराद को एक दासी की गोद में देकर कहा—"राजकुमार को अभी इनके महल में पहुँचा दो।"

सलीमा बहुत रिस में भर गई अकबर की इस असावधानी पर। उसने दासी की गोद से राजकुमार को लेकर भले प्रकार देखा-भाला। दासी के जाने पर राजकुमार से पूछा—"कुछ खाया तो नहीं तुमने वहाँ?"

प्रहरी ने दसवंत के हाथ से चित्र लेकर पूछा—"क्या बना लाए यह?"

"देखो, पहचानो।"

चित्र देखते हुए प्रहरी ने कहा—"देखा है अवश्य! हीरा गायिका है यह?" हठात् उसके मुँह से निकल गया।

"हाँ, दसवंत ने हर्षित होकर कहा।

जब सम्राट् ने हीरा का चित्र हाथ में लिया, तो उसके सुख की सीमा न रही। उसने बड़े प्रेम-भाव से दसवंत की पीठ ठोककर कहा—"शाबाश!"

दसवंत ने अत्यंत विनम्र होकर उस अभिनंदन को लिया।

"तुमने बहुत समय लगाया इसे बनाने में। पर जो यथार्थता इसमें खुली है, उसके सामने वह कुछ भी नहीं। कहाँ बनाया यह चित्र?"

"आगरे में ही।"

"तुम कष्ट में हो। राजकोष से वेतन लिया या नहीं?"

"नहीं।"

सम्राट् के मुख पर मुसकान दिखाई दी—"मैं तो समझा था, तुम रिस में भरकर, आगरा छोड़कर चले गए। तुम अब भी वहीं हो। अब तो वह प्रायः शून्य ही हो गया।"

"हाँ महाराज!"

"सैनिकों के ही मुहल्ले में हो? वही तो सबसे निर्जन हुआ। मैं आगामी रविवार को फिर अजमेर जा रहा हूँ। दो-चार दिन रहूँगा वहाँ। उसके बाद गुजरात को विजित करना है। सेना प्रस्थान कर चुकी है। तुम आज ही यहाँ आ जाओ।'

"आज अब समय होगा?"

"रात भी हो जाय, तो क्या हानि है। तुम्हें दरबार से सहायता मिल जायगी, जितनी चाहो। एक ही खेप में अपना सब कुछ आगरे से यहाँ ले आओ।"

"जैसी आज्ञा।"

"दरबारियों के मुहल्ले में ही तुम्हारे मकान का अभी प्रबंध कर दिया जायगा।"

"वहाँ न रहूँगा महाराज!"

"क्यों?"

"विघ्न, महाराज विघ्न!"

"विघ्नों के बीच में अपना सरल मार्ग निकालनेवाले का ही नाम तो कलाकार है। तुम गणेशजी की पूजा नहीं करते?"

दसवंत के मुख पर बड़ी असमर्थता प्रकट हुई।

"समय नहीं खोना है चित्रकार! इस चित्र की दस प्रतिलिपियाँ कल संध्या-समय तक बना लाओ। बना लोगे न?"

"हाँ महाराज! पहला चित्र बन गया। अब प्रतिलिपियों में क्या कठिनता होगी। परंतु यहाँ अभी नहीं आ सकता।"

"तुम्हारी इच्छा, तुम्हें जितने धन की आवश्यकता हो, राजकोष से अभी मिलेगा।"

"अभी उसकी भी कोई आवश्यकता नहीं। परसों ले लूँगा, इस समय तो मैं सबसे वेगवान् घोड़े पर आगरे पहुँचना चाहता हूँ।"

"उसका भी प्रबंध कर दिया जायगा।"

आगरे का वह शांत-शून्य मुहल्ला रात्रि के अंधकार में और भी नीरव हो गया था।

आधी रात बीत चुकी थी। दसवंत हीरा के ध्यान में तन्मय होकर उसके चित्र बना रहा था।

सामने ही उसके, काषाय-कोमल शय्या पर रागिनी सो रही थी। उज्ज्वल शिखाओं में प्रज्वलित दीपक उसके मुख और चित्रफलक, दोनो को समान भाव से प्रकाशित कर रहा था। चित्रकार ने तूलिका के उलटे सिरे से दीप-शिखा के मुख पर उभरा हुआ फूल तोड़ दिया। तूलिका ने कुछ विश्राम पाया।

दसवंत ने रागिनी के मुख पर निर्निमेष दृष्टि की। मन में विचारा उसने—"यदि केवल रूप के लिये ही होती कला, रौप्य के लिये नहीं!"

रागिनी के अधर कुछ खिंचे।

दसवंत ने पुकारा—"रागिनी!"

"हाँ।" उसने अर्द्धोन्मीलित नेत्रों से कहा। नींद के प्रभाव से वह पूर्ण मुक्त न हो सकी थी।

"तुम जाग ही रही हो?"

"नहीं। मैंने सपना देखा है। बड़ा भयानक!"

"पर तुम अभी-अभी हँस रही थीं।"

"सपने के जगत् को इस वास्तविक जगत् की तुलना में तुच्छ समझकर। सो जाओ चित्रकार!"

"क्या सपना देखा तुमने?"

"तुम मेरा हाथ पकड़कर एक शून्य विजन में छोड़ आए,

और राजधानी की सारी जनता ने चारो ओर से आकर मुझे घेर लिया।"

"एक साधारण स्वप्न।"

"नहीं। वे एक स्वर में कहने लगे कि यही है वह दुराचारिणी स्त्री। हृदय अपने आप उदास हो गया उस समय से। मैं दुराचारिणी हूँ चित्रकार ?"

"केवल एक कल्पना से ही इतनी उत्तेजित हो उठी हो।"

"कल्पना में भी तो यथार्थता है। सारा भौतिक जगत् तुम्हारी कल्पना में प्रविष्ट होता है, और फिर चित्र के धरातल पर आकर क्या यथार्थता नहीं प्रकट कर देता।" रागिनी उठने लगी थी।

"ऐसे ही सोई रहो रागिनी। दीपक की मधुर ज्योति में प्रतिफलित तुम्हारा यह मुख इस मुद्रा में बड़ा सुहावना प्रतीत हो रहा है।"

रागिनी वैसी ही रह गई—"रात कितनी गई ?"

"आधी से कुछ ही अधिक।"

"कितने चित्र बन चुके ?"

"रेखाएँ सभी चित्रों में अंकित कर चुका हूँ, केवल परिपूर्णता शेष है सबकी। कल दोपहर तक काम पूरा हो जायगा। जब आदर्श स्पष्ट, आँखों के सामने रहता है, तो क्या कठिनाई है ?"

"विश्राम करो चित्रकार !"

"नींद न आवेगी अब आज। सीकरी चलोगी ?"

"हाँ।"

दूसरे दिन दसवंत वे दसों चित्र सीकरी जाकर सम्राट् को सौंप आया। सम्राट् ने एक चित्र कार्यालय में शेष नौ चित्र राज्य के प्रधान गुप्तचरों को दे दिए कि वे हीरा की खोज करें।

दसवंत को राजाज्ञा मिली कि वह स्थापत्य-विशारद बहाउद्दीन के पास जो सम्राट् के सीकरी-भवन-निर्माण के विचार हैं, उनको अपनी कल्पना से अधिक स्पष्ट करे।

नियत तिथि को सीकरी के संत का आशीर्वाद ग्रहण कर अकबर शेष दल के साथ गुजरात-विजय के लिये प्रस्थित हुआ।

दसवंत ने बाजार में एक मकान किराए पर लिया, ईरानी सौदागरों के पड़ोस में। अब उसके मन में यह समस्या बसी कि रागिनी को आगरे से सीकरी किस प्रकार लाया जाय।

"नहीं रागिनी," दसवंत ने कहा—"रात के समय नहीं। यह सच है, रात स्वयं एक आवरण है, पर अंधकार को छेदने के लिये लोगों की दृष्टि उस समय बड़ी तीक्ष्ण हो जाती है।"

"फिर ?"

"हमारा कुछ भी अपराध नहीं। हमें फिर क्या भय है, हम सूर्यनारायण के ही प्रकाश में अपना पथ ग्रहण करेंगे।"

"नहीं, मैं न जाऊँगी ऐसे।"

"घूँघट खींचकर चलना।"

"हीरा की खोज के लिये, तुम्हीं कहते हो, चार गुप्तचर अभी सीकरी में ही घूम रहे हैं। यदि उन्होंने तुम्हारी उपेक्षा कर मेरा अवगुंठन उलट डाला, तो?"

"सत्य प्रकट हो जाय अब रागिनी! रह-रहकर एक ऐसी प्रेरणा मन में उदित हो रही है।"

"नहीं चित्रकार! तब तुम्हारे मन में छलना है मेरे लिये।"

"अच्छा, तब तुम्हें पुरुष-वेश में छिपाकर ले चलूँगा।"

रागिनी तैयार हो गई। दसवंत सब कुछ सीकरी भेज चुका था। केवल तीन प्राणी शेष थे, वे दोनो और वह महाराजिन।

एक रथ किराए पर लेकर वे तीनो उसमें बैठकर सीकरी चले। सीकरी पहुँचकर आगरा द्वार के बाहर दसवंत ने रथवान को विदा कर दिया। महाराजिन और रागिनी को आगे-आगे चलने का आदेश देकर दसवंत धीर पगों से उनके पीछे-पीछे जाने लगा।

महाराजिन थोड़ा-सा घूँघट खींचे हुए जा रही थी। उसके साथ-साथ थी रागिनी। सिर के लंबे केशों को पगड़ी में छिपाए, रूप को दास के वेश में, नवीन वय को पुराने वस्त्रों में ढके।

वे जब आगरा-द्वार को पार कर सीकरी के भीतर घुस रहे थे, अचानक किसी ने पुकारा—"ठहरो।"

रागिनी ने महाराजिन से कहा—"बकने दो, चली चलो।"

पुकारनेवाला दौड़कर उनके निकट आ गया, और बोला—"ठहरो, राजाज्ञा है मेरे पास, घूँघट खोलना पड़ेगा इस महिला को कि मैं अपनी जेब के चित्र से इसके मुख की तुलना करूँ।" वह चित्र ढूँढ़ने लगा अपनी जेबों में। नहीं मिला। हतप्रभ होकर कहने लगा—"अभी कुछ देर पहले तो था। अब क्या करूँ? सम्राट् इस असावधानी के लिये कठोर दंड देंगे।"

रागिनी वेग से महाराजिन के साथ आगे बढ़ गई नौबत-गृह की ओर। महाराजिन को मकान ज्ञात था। गुप्तचर वहीं चित्र खोजता रह गया, और चिंतित होकर पथ में लौट गया, भूमि पर बड़ी सावधानी से दृष्टि गड़ाता हुआ। चित्र नहीं मिला उसे, मिला चित्रकार!

दसवंत जानता न था उसे। महाराजिन के पथ में बाधा देते हुए दूर से देख लिया था उसने। कौतूहल बढ़ गया था उसके मन में। गुप्तचर विशेष वेश में था। चित्र खोजने में जो चिंता उसे उत्पन्न हो गई थी, वह उसके रोम-रोम से बाहर फूटकर निकल रही थी।

"क्या खोज रहे हो?" दसवंत ने पूछा। मार्ग का आकर्षण विफल करने के लिये बहुत साधारण वेश में था वह।

गुप्तचर भी नहीं पहचानता था उसे। कुछ भी उत्तर नहीं दिया उसने दसवंत के प्रश्न का। खोज उसकी जारी ही थी।

"क्या काम करते हो?" फिर पूछा दसवंत ने।

"राज का। यहाँ पूरा शहर बस रहा है, सुनकर आया हूँ कश्मीर से।"

"फिर सुई की भाँति खोज रहे हो, क्या? काम मिला या नहीं?"

"अभी आज ही तो आया हूँ। अशर्फ़ी गिर गई एक न-जाने कहाँ?"

दसवंत आगे बढ़ गया। नए घर में जाकर उसे सब भेद ज्ञात हुआ। रागिनी को सकुशल पाकर बड़ा धीरज हुआ उसे।

रहस्य को अक्षुण्ण रख सकने पर बड़े ज़ोर से खिल-खिला उठी सुंदरी—"क्या मालूम उसे, जिस चित्र को वह ढूँढ़ रहा था, उसका स्रष्टा उसके पास ही से निकल गया!"

दसवंत ने हँसकर कहा—"पसंद है तुम्हें यह निवास?"

"हाँ, ठीक है।"

सीकरी के संत का तीसरा लड़का अब कुटी में नहीं दिखाई देता। कुछ लोग अनुमान करते हैं, उनकी स्त्री भी नहीं है अब वहाँ। संभव है, उसी को लेकर वह कहीं स्थानांतर में चली गई।

महात्माजी अपनी कुटी छोड़कर राजनगर में नहीं जाते। सब वहीं आकर उनके दर्शन करते हैं। राजभवन की रानियों की भेंट के लिये कुटी के अंतर्भाग में स्थान नियुक्त है।

महात्माजी सिक्कों की भेंट स्वीकार नहीं करते। फल-मेवे जो कुछ उनके भक्त लोग उनके लिये लाते हैं, वे सब दर्शकों में ही बाँट दिए जाते हैं। दास-दासी कोई भी नहीं है उनकी सेवा के लिये। सम्राट् ने कितना ही आग्रह किया था। एक न मानें महात्माजी।

प्रभात में जोधबाई के महल से और रात को सलीमा बेगम के यहाँ से भोजन जाता है उनके यहाँ।

उस दिन महात्माजी नें दासी से कहा—"मैंने एक बार तुमसे पहले भी कहा था, इतना खाना न लाया करो।"

"मैंने वहाँ जाकर कह दिया था, महारानीजी से। वही नहीं मानीं।"

"कह देना उनसे, यहाँ आजकल मैं अकेला ही हूँ।"

"वे लोग?"

"सब चले गए!"

"कहाँ?"

"कहाँ बताऊँ तुम्हें? कोई कहीं, कोई कहीं। चलती-फिरती छायाएँ।"

एक दिन महात्माजी के द्वार पर हाथी और ऊँटों पर भाँति-भाँति के वस्त्राभूषण, फल और मेवे लदकर आ गए।

महात्माजी ने पूछा—"कहाँ से आया है यह ?"

उत्तर मिला—"अजमेर से आया है। सम्राट् की तीसरी रानी के पुत्र हुआ है। रानी ने राजकुमार का नाम दानियाल रक्खा है, और आपके आशीर्वाद की कामना की है। उन्होंने यह भी कहा है कि महाराज अभी युद्ध-यात्रा में गए हैं, उनके वापस आने पर वह और भी यथोचित रीति से आपका सम्मान करेंगी।"

"यहाँ तक आने का परिश्रम क्यों किया ? अजमेर के ख्वाजा क्या चले गए वहाँ से ?"

"नहीं।"

"फिर ?...मैं क्या करूँ, इस भेंट-उपहार से। इस कुटी को तुम इतना सुंदर और विस्तृत देखते हो न, पर यह शून्य है भीतर से। इसलिये अच्छा होता, तुम यह सब कुछ वापस ले जाते।"

वाहकगण एक दूसरे का मुँह देखने लगे आश्चर्य के साथ। उनके मुख से कोई बात ही न निकल सकी।

कुछ देर की नीरवता तोड़कर महात्माजी बोले—"अच्छा, रहने दो यह सब। चील-कौए, कुत्ते-गीदड़ों की कमी नहीं है। ले ही जायँगे सब अपने-अपने भाग का। उतार दो यहीं इस आँगन में सब सामान।"

सामान उतरवाकर महात्माजी ने उन सेवकों को बिदा किया। जोधबाई की दासी आ पहुँची उनका भोजन लेकर।

महात्माजी आज बहुत दिनों बाद उसे बाहर मिले। नहीं तो नित्य ही उसे द्वार खटखटाने पड़ते थे।

महात्माजी ने अपनी सतत-सुलभ हँसी के साथ कहा—"तूने आज व्यर्थ ही कष्ट किया। देख, कितनी भेंट आई है। अब महीने-भर के लिये मुझे कुछ भी नहीं चाहिए।"

"कहाँ, अजमेर से ही आई होगी।"

"हाँ, तुझे तो ज्ञात है।"

"हाँ, महारानीजी के महल में भी आई है।"

"दासी, कह देना महारानीजी से, वह अब महीने-भर तक मेरे लिये कुछ न भेजें।"

"क्यों नहीं। यह तो बासी है।" भोजन एक चबूतरे पर रक्खा दासी ने।

"इसमें फल और मेवे भी तो हैं।"

"देखिए, आज मैं थोड़ा-सा लाई हूँ। इतना ही ताज़ा भोजन ले आऊँगी।"

"नहीं, भोजन के लिये मेरी कुछ भी इच्छा नहीं। सुन, तुझे अपने मन का भेद दूँगा। जब से मेरी गाय मर गई।"

"मुझे नहीं मालूम। मैं नित्य आपके लिये दूध दे जाऊँगी, दोनों समय।"

"दूध की बात नहीं कहता मैं। दिन-भर उसकी चिंता रहती थी मुझे। उसी में सारा श्रम केंद्रित था मेरा। पहले उसकी बछिया मर गई, और उसी के शोक में उसने

जीवन के शेष दिन, विना घास-पानी के, आँसू बहा-बहा-कर काट दिए ! और, एक हम हैं। मैं उस गाय को अब इधर दुहता ही कहाँ था। किसके लिये ? सारा दूध बछिया को-ही पिला देता था। मैं कुछ दिन कुटी के द्वार बंद कर एकांत में भगवान् का भजन करना चाहता हूँ।"

"परंतु भजन भोजन ही से तो निकलता है। इस दासी को इस चातुरी के लिये क्षमा कीजिए। सुना था, बीरबल महाराज से। जब हम जँभाई लेते हैं, तो 'ओ' की ध्वनि आती है, या एक हाथ ऊपर कर अँगड़ाते हैं, तो शेष धड़ के साथ हमारा हाथ 'ओ' की मात्रा (ो) बनाता है। 'ओ' का स्वाभाविक अर्थ हुआ आलस्य। भोजन में भजन से यही एक 'ओ' की मात्रा अधिक है, अर्थात् भोजन में से सुस्ती की मात्रा 'ओ' निकाल दें, तो स्वतः ही भजन हो जाता है।"

"तू तो परिहास-निरत है, राजमहल की दासी। साधु के नियम में वाधा न डालना। इस उपहार के ढेर में कोई वस्तु है पसंद तुझे ?"

दासी की सतृष्ण दृष्टि पड़ ही रही थी उस पर बार-बार। कुछ विचारकर बोली—'महाराज, महारानीजी से पूछ लूँगी।"

"पूछ लेना, यह सब सामान बाहर ही रक्खा है। जो तेरे जी में आवे, उठा ले जाना। द्वार खटखटाकर मेरे

एकांत को न तोड़ना। और किसी को द्वार खटखटाने की आज्ञा नहीं। सम्राट् भी द्वार बंद देखकर लौट जाते हैं।"

"भोजन के लिये आज्ञा नहीं दी आपने ?"

"तुझे यदि हठ ही स्वीकार हो, तो कुछ थोड़ा-सा रख जाना इस आँगन के आले में।"

"बंदर और कौए न रहने देंगे।"

"कोई परवा नहीं। रख दे यह थाली वहीं इसी समय।" महात्माजी ने आकाश की ओर देखकर कहा—"हो गया मेरा समय।" वह कुटीर के भीतर चले गए, और उन्होंने द्वार बंद कर दिए।

दासी भी भोजन की थाली यथास्थान रखकर जाने लगी। अचानक कुटी का द्वार खुला।

महात्माजी ने बाहर आकर कहा—"अकबर के लौटने पर तू कह देना उससे, मेरे वचन भूले नहीं। हम छाया उपजा नहीं सकते। वह अपने आप उठती और मिटती है।"

दासी कुछ समझी नहीं। वह कुछ पूछती कि महात्माजी उससे पहले ही कुटीर के भीतर बंदी हो गए।

दासी ने राजभवन में जाकर जोधबाई से यह सब कुछ कहा।

महारानी ने अंत में कहा—"बहुत दिनों से महात्माजी के पैर छूने नहीं गई हूँ मैं। विचार ही रही थी। आज

तुम्हारी ये बातें सुनकर तो इसी घड़ी उनके दर्शन की इच्छा होती है।"

"जैसी आज्ञा हो महारानीजी की।"

"अब आज रहने दो, कल-परसों, किसी दिन सही।" जोधबाई ने कुछ और याद कर कहा—"तूने पूछा नहीं कि स्त्री-पुत्र कहाँ गए?"

"कुछ बताया नहीं।"

"सेवा के लिये कोई सेवक भेज देने को नहीं कह आई?"

"नहीं स्वीकार करेंगे। महाराज ने कितनी ही बार कहा। कभी न माने।"

"मानेंगे कैसे नहीं? आजकल तो अब अकेले ही हैं। मैं मना लूँगी। तू है तैयार रहने को वहाँ, कह।"

दासी इधर-उधर देखने लगी—"महारानीजी! पर—"

"बड़ी भक्ति दिखाती थी तू तो उनके प्रति।"

"पर मेरी जीजी आनेवाली है न आज-कल में।"

"क्या हुआ, फिर आ जायगी। महात्माजी की सेवा सौभाग्य से ही मिलती है। सैकड़ों दासियाँ तैयार हो जायँगी वहाँ जाने को।"

"आपकी आज्ञा कैसे टाल सकती हूँ? रहूँगी मैं। पर उतने बड़े मकान में बड़ा डर लगता है। जो कुछ भी होगा फिर, रहूँगी।"

पाँचवें दिन महारानी जोधबाई महात्माजी के दर्शन को चलीं। दो दासियाँ उनके साथ रथ पर सवार थीं। युवराज सलीम भी थे। और, बहुत-सा भेंट का सामान भी साथ गया।

कुटी में सर्वत्र शून्यता थी। बाहर आँगन का द्वार रुद्ध था। पहले वह कभी रात में भी बंद नहीं किया जाता था।

एक दासी ने आँगन का द्वार खटखटाया। भीतर से कोई उत्तर नहीं मिला।

महात्माजी को पुकारना शिष्टाचर के विरुद्ध समझा गया। एक दूसरी दासी ने कुछ और ज़ोर से द्वार खटखटाए, कुछ देर प्रतीक्षा की, कोई उत्तर न मिला।

दासी ने इस बार पुकारा—"महारानीजी आई हैं, महात्माजी के दर्शन के लिये, बड़ी देर से खड़ी हैं।" फिर वही पूर्ववत् शांति।

आँगन की दीवार के बाहर, एक इमली का पेड़ था। एक दासी उस पर चढ़ गई, और उस पर से आँगन के भीतर कूद गई। बोली—"कुटी का द्वार भी बंद है अंदर से।" उसने कुटी का द्वार खटखटाया—व्यर्थ!

उसने जाकर आँगन का द्वार खोल दिया। सबने आँगन में प्रवेश किया। द्वार खुलवाने की कई चेष्टाएँ की गईं, पर द्वार न खुला।

अब तो सबके होश उड़ गए!

नगर से एक बढ़ई बुलाया गया। उसने बड़े परिश्रम से उस द्वार को उखाड़कर खोला। भीतर जाने के लिये किसी को साहस न हुआ। अंत में बढ़ई ही बड़े धीर और सावधाने पगों से बढ़ा आगे।

भीतर जाकर उसने दूर से देखा। एक तख़्त पर महात्माजी सो रहे हैं, पीठ के बल। एक श्वेत चादर से वह सिर से पैर तक ढके हुए पड़े हैं—नीरव और निष्पंद! उसने कुछ देर तक खड़े रहकर निरीक्षण किया। निराश होकर वह कुछ आगे बढ़ा। उसने कान लगाए, वह बोल उठा—"नहीं, साँस भी नहीं चल रही है।"

बढ़ई दौड़कर बाहर आ गया, और कहने लगा—"महात्माजी अत्यंत निश्चेष्ट दशा में पड़े हैं। मैं समझता हूँ, उनमें जीवन का कोई भी लक्षण प्रकट नहीं।"

महारानीजी तुरंत ही दासियों को लेकर युवराज के साथ अपने महल लौट गईं। बिजली की गति से यह समाचार सारे नगर में फैल गया। सीकरी में जो भी धनी-मानी और पदवीधारी चढ़ाई पर जाने से बचे थे, सब-के-सब महात्माजी की कुटी की ओर दौड़ पड़े।

चादर उठाकर जो देखा, तो महात्माजी निष्प्राण थे, आँखें निस्तेज हो गई थीं। होठों पर एक हँसी अब भी थी, पर सूखे हुए फूल की तरह!

बड़ी भक्ति और आदर के साथ बड़े-बड़े लोगों ने अपने

हाथ से महात्माजी के अंतिम संस्कार किए। समाधि का स्थान उनका पहले से ही नियुक्त था आँगन में ही। वहीं उनको आरंभिक समाधि दे दी गई।

सम्राट् अकबर की सेवा में यह समाचार भेज दिया गया, एक साँड़नी-सवार द्वारा तुरंत ही।

पाँच

य: साल-भर बाद अकबर गुजरात-विजय कर लौटा। सोकरी के संत का स्वर्गवास-समाचार उसे मिल गया था। उसके विजय के हर्ष में यही एक विषाद की छाया पड़ गई थी।

वह दासी सम्राट् के समीप बुलाई गई। उसने हाथ जोड़कर कहा—"हाँ महाराज, महात्माजी से अंतिम बातें करने का सौभाग्य इस सेविका को ही मिला।"

"क्या कहा उन्होंने ?" सम्राट् ने पूछा।

दासी बोली—"उन्होंने महाराज को अनेक आशीर्वाद देकर कहा कि तू उनसे कह देना, सारे भारतवर्ष पर उनकी प्रभुता स्थापित होगी एक दिन। वह मेरे वचनों को न भूलें।"

"फिर ?"

"फिर वह कुटी के भीतर बंद हो गए। हमें क्या मालूम था, अब वह हमारे लिये दुर्लभ हो जायँगे ?"

"फिर कोई नहीं गया उनके पास ?"

"उन्होंने आने ही नहीं दिया किसी को।"

"इतना बड़ा नगर मैंने यहाँ बसा दिया। मेरे सबसे बड़े

हितकारी की मृत्यु-शय्या के निकट एक भी उपस्थित नहीं रहा। बड़े दुःख की बात है फ़ैज़ी !"

फ़ैज़ी बोला—"महात्मा ने ही, जान पड़ता है, वैसी मृत्यु पसंद की। दुःख की कोई बात नहीं महाराज ! सीकरी के एक-एक पत्थर में महात्मा की आत्मा मौजूद है। यहाँ का एक-एक पग उनके आशीर्वाद में रँगा हुआ है।"

"ऐसा अनुभव होता है कवि ! समझ तो रहा हूँ, महात्माजी की मृत्यु नहीं हुई है। ऐसा भास होता है, वह अपनी कुटी में विराजमान हैं। वहाँ जाने पर मिलेंगे।"

"न कहीं जन्म है दयानिधान ! न कहीं मृत्यु। हमारे अज्ञान के कारण ही इस भेद का जन्म हुआ है।"

"तुम्हारे सूफ़ी विचार हृदय को परम शांति देते हैं। इसीलिये मैंने तुम्हें बुलाया है। फिर कहाँ चला जाता है प्राणी ?"

"हमारा तर्क नहीं चल सकता। केवल कल्पना काम देती है वहाँ।"

"मैंने इसे राजनगरी बनाने में राजकोष को मुक्त-हस्त से लगाया है। श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ कारीगरों को इसके लिये नियुक्त किया है।"

"उसे अब भी जारी रखिए।"

"हाँ, रक्खूँगा। उन महात्मा का बहुत भारी ऋण है मुझ पर। फ़ैज़ी ! तुम विश्वास करो, उन्होंने अपने तीन पुत्र खोकर मुझे तीन पुत्रों का वरदान दिया। मैं उन महात्मा

की बहुमूल्य समाधि बनाऊँगा यहाँ, जिससे संसार में उनका मेरे ऊपर ऋण-भार सदैव प्रकट रहे। इस राजनगरी का नाम फ़तहपुर होगा, गुजरात-विजय की स्मृति में।"

"बहुत उत्तम है महाराज!"

"मैंने युवराज का नाम सलीम रक्खा है। उन्हीं के नाम पर। उनका वचन याद है मुझे. मैं उसके लिये भी कटिबद्ध हूँ। राजनीति मेरा आडंबर है कवि! मेरे प्राणों की तृष्णा धार्मिक विषय ही है। मैं बार-बार सोचता हूँ, बड़े-बड़े विद्वान् वाद-विवाद कर धर्म के शुद्ध तत्त्व की शोध करें। सत्य सभी धर्मों में मौजूद है। तुमने अपने छोटे भाई अबुलफ़ज़ल को मेरी राजसभा में बुलाने के लिये कहा था।"

"हाँ महाराज, मैंने फिर उसके पास संदेश भेजा है।"

सम्राट् अपने तत्त्वावधान में फिर सीकरी का शृंगार करने लगा था कि अचानक गुजरात-विद्रोह का समाचार उसके पास आया, और वह स्वयं विद्रोहियों का दमन करने को वहाँ के लिये प्रस्थित हुआ।

जाने से पहले सीकरी की तमाम बनती हुई इमारतों का निरीक्षण किया। नवीन बननेवाले स्थापत्य के नक़्शों की देख-भाल की। सात मील घेरकर जो नगर की दीवार बन रही थी, उसका काम कुछ ढीला पड़ गया था, उस पर भी श्रम जारी रखने की आज्ञा दी।

हीरा को राजभवन से अदृश्य हुए तीन साल बीतने को

आए। चित्रों के बन जाने से उस खोज की आशा कुछ प्रबल हुई थी। उसे भी एक वर्ष पूरा हो गया। कोई हीरा के समाचार भी न ला सका।

अचानक एक दिन सीकरी में यह समाचार बिजली-सा चमक गया कि हीरा नायिका पकड़कर लाई गई है।

सभी हीरा को देखने के लिये चले। जिन्होंने उसे देखा भी न था, वह भी कौतूहलवश चले जन-सभा और उसके बाहर बड़ी भीड़ लोगों की लग गई प्रहरीगण उस भीड़ को सँभाल न सके।

मरियम के महल में दसवंत दीवार पर चित्र बना रहा था। यह समाचार सुनकर सीढ़ी पर से गिरते-गिरते बचा। फिर भी उसकी दाहनी कोहनी छिल गई।

"हीरा पकड़ ली गई ? कहाँ सुना तुमने ?" दसवंत ने अपने एक सेवक से पूछा।

"टकसाल के मैदान तक तमाम भीड़ जमा हो गई है। रंग लेकर जब मैं आ रहा था, तो सुना।"

"कौन पकड़ लाया है ?"

"एक गुप्तचर।"

"कहाँ से ?"

"यहीं सीकरी में ही पकड़ ली गई।"

"सच कह रहे हो ? तुमने देखा उसे ?"

"हाँ।"

"पहचानते हो तुम उसे? कभी देखा था तुमने उसे?"

"नहीं, कभी नहीं।"

"फिर?"

"सारी जनता जो कह रही है।"

दसवंत ने कहा—"तुम रंग तैयार करो। मैं भी देख आता हूँ, बात क्या है।"

दसवंत ने भीड़ चीरने की कोशिश की, सफल न हो सका। वह घबराकर अपने घर चला। महाराजिन के द्वार खोलते ही उसने पूछा—"क्या बात है?"

"कुछ नहीं। आप इतने उत्तेजित क्यों हैं?"

"रागिनी कहाँ है?"

"बैठक में चित्र बना रही हैं।"

दसवंत बड़े ज़ोर से हँसा।

रागिनी ने पूछा—"क्यों, क्या बात है?"

"आज हीरा पकड़कर लाई गई है।"

आश्चर्य में भरकर रागिनी ने तूलिका अलग रख दी—"सच? असंभव कुछ भी नहीं है संसार में।"

महारानी जोधबाई ने जब यह समाचार सुना कि मेरी दासी पकड़ी जाकर आ गई, तो उसके सुख की सीमा न रही। विरह प्रेम को विशेष मधुर कर देता है। फिर किसी वस्तु से बिलकुल निराश हो जाने पर जब वह अचानक मिल जाती है, तो कहना ही क्या है।

"उसके हृदय में वैराग्य पैदा हो गया था। गाते-गाते कभी वह गीत बंद कर देती, उसकी आँखें भर जाती थीं, और वह कहने लगती कि मेरा मन मथुरा जाने को कर रहा है।"

"आप उसकी अवस्था नवीन ही बताती हैं।"

"हाँ।"

"यदि मैं उसकी मानसिक दशा को वैराग्य न कहकर अनुराग कहूँ, तो?"

"मैंने कहा था उससे, यदि वह विवाह करना चाहती है, तो मैं बड़ी प्रसन्नता से उसे आज्ञा दे सकती हूँ। पर उसने सदैव अस्वीकार किया।"

दासी वहीं खड़ी-खड़ी उनकी बातें सुनने लगी थी।

महारानी ने उससे कहा—"तू जाती क्यों नहीं?"

"महारानीजी की आज्ञा की प्रतीक्षा कर रही हूँ।"

"मैं कह तो रही हूँ, जा।"

बड़ा भारी पैर दासी ने निष्क्रांति के लिये बढ़ाया—"बड़ी भीड़ है वहाँ।"

"प्रहरी से कह। कुछ सैनिकों को साथ ले जा। वे राज-सभा तक तेरा मार्ग बना देंगे।"

दासी चली गई।

हीरा, अंत:पुर की गायिका। स्वभाव से संकोचशील। बहुत कम लोग बाहर उसे देख पाते थे। राजसभा के एक

कोने में घूँघट काढ़े खड़ी थी। उसके दोनो हाथ रस्सी से बाँधकर उसका दूसरा सिरा अपने हाथों में दृढ़ता से ले रक्खा था उसने। वह मथुरा का एक बैरागी था। कहा उसने—"गोपालजी के मंदिर में इसने नाचने और गाने की नौकरी की है, अभी कुछ ही महीने से। कोई नहीं जानता वहाँ, यह कहाँ से आई है। काशी की बताती है यह अपने को।"

"तुमने कैसे पहचाना इसे ?" एक सभासद् ने पूछा।

"राज्य का एक गुप्तचर महीनों तक मथुरा के घाटों और मंदिरों में इसका पता लगाते हुए घूमा था। उसकी मेरी मित्रता हो गई थी। उसी के पास मैंने इसका चित्र देखा था। अचानक एक दिन मैंने इसे यमुना के किनारे देख लिया। चित्र की स्मृति मेरे हृदय में गड़ी हुई थी। इसके मुख पर उसका प्रतिबिंब पाकर मैंने तुरंत ही इसे पुकारा—हीरा! यह सहम गई। इसने घबराकर मेरी ओर देखा, और फिर भागने लगी। मैंने पकड़कर बाँध लिया इसे। मैंने और भी अनेक प्रश्न किए इससे। इसके उत्तरों ने संशय ही बढ़ाया केवल। जब मैंने इसे भय दिया, तो इसने सच बात खोल दी।"

"साधु महाराज! तुम्हें ज्ञात है, राज्य ने इसको पकड़-कर लाने वाले का पुरस्कार बढ़ाकर पाँच हज़ार अशर्फ़ियाँ कर दी हैं।"

साधु बोला—"हाँ ज्ञात है। पर धन के लोभ से मैंने इतना नहीं किया, जितना राजा की भक्ति से।"

फ़ैज़ी कवि भी सभासदों में था, कहा उसने—"राजा की भक्ति? वह भिन्न धर्म का है।"

"हुआ करे। उसने तीर्थ-यात्रियों पर का कर हटा दिया, उसने जज़िया बंद कर दिया।"

तानसेनजी बुलाए गए थे, आ पहुँचे।

प्रधान विचारक ने कहा—"आचार्य, आपको इस समय कष्ट देने का एक कारण है। यह साधु—"विचारक ने साधु की ओर संकेत किया।

पर वहाँ साधु का पता न था।

विचारक बोला—"कहाँ गया?"

दर्शकों में से एक बोला—"शौच के लिये बाहर गए हैं; अभी आते हैं।"

विचारक कहने लगा—"वह साधु इस अवगुंठनवती को पकड़कर लाया है। उसका कहना है, यह अंतःपुर से भागी हुई गायिका हीरा है, जिसे चार वर्ष हो गए हैं। आप पहचानते हैं उस हीरा को?"

"हाँ।"

तानसेनजी ने तानपूरा भूमि पर रक्खा।

एक सभासद् बोला—"इतनी भीड़ में यह यंत्र ले आए

आप ? आपने समझा, कदाचित् सम्राट् लौट आए विद्रोह-दमन कर।"

"नहीं।" तानसेनजी ने हँसते हुए तानपूरे का आवरण खोला।

विचारक हँसते हुए कहने लगा—"आप तो इस विचार-सभा को संगीत-सभा में बदलने लगे।"

"आप ही की आज्ञा का पालन कर रहा हूँ।"

"मैंने तो आपको बुलाया है इस स्त्री को पहचानने के लिये।"

तानसेनजी ने तानपूरे को छेड़ते हुए पुकारा—"हीरा !"

हीरा वैसी ही चुपचाप खड़ी रही। उसके दोनो हाथ छाती पर बँधे हुए थे, जिनके ऊपर उसका लंबा घूँघट खिंचा हुआ था। कुछ तार तानपूरे के उतर गए थे। तानसेनजी ने उन्हें खींचकर ठीक कर लिया।

उन्होंने फिर तानपूरा छेड़कर पुकारा—"हीरा !"

विचारक ने प्रहरी से कहा—"इसका घूँघट उलट दो।"

तानसेनजी बोले—"नहीं, हीरा एक संभ्रांत महिला है, मैं बहुत दिनों से जानता हूँ उसे। उसके शील को क्षति पहुँचेगी। इसके अतिरिक्त यह महारानीजी की अत्यंत स्नेह की पात्री है। ठहरो, मैं इसे ऐसे ही पहचान दूँगा।"

"ऐसे कैसे ?" किसी अधीर ने पूछा।

"आँख धोका दे सकती है मुझे। हीरा ! स्वर दो। मैं कान से तुम्हें पहचानूँगा।"

परंतु हीरा वैसी ही मिट्टी की पुतली की भाँति खड़ी रही।

"हीरा !" तानसेनजी ने फिर पुकारा।

"मैं हीरा नहीं हूँ !" उस घूँघटवाली ने कहा दबी वाणी से।

संकेत पाकर एक प्रहरी ने उसका घूँघट उलट दिया। जो हीरा को पहचानते थे, वे सब बोल उठे—"यह नहीं है हीरा।"

तानसेनजी ने भी कहा—"हाँ, निस्संदेह यह हीरा नहीं है।"

"कहाँ है वह साधु ?" विचारक ने पूछा।

"नहीं लौटा, न-जाने कहाँ चल दिया।"

"प्रहरी ! बाँध लो इसे। ऐसे प्रतापी भारत के अधीश्वर को धोका देने की हिम्मत हुई इसकी।"

प्रहरी ने उसके हाथ से लटकती हुई रस्सी दृढ़ता से पकड़ ली।

बंदिनी नारी कहने लगी—"मेरा कोई अपराध नहीं। मैंने कभी आप लोगों से नहीं कहा कि मैं हीरा हूँ। यह साधु पुरस्कार के लालच से मुझे बहका लाया था। इसने मुझसे कहा था कि पुरस्कार मिलने पर आधा हिस्सा तुझे भी दूँगा।'

"कैसी मूर्खा नारी है तू! राजसभा में कुछ देर के लिये तेरा भेद न भी खुलता, तो अंतःपुर में कितनी घड़ी तक छिप सकती तू?" एक सभासद् ने कहा।

"साधु ने मुझे वचन दिया था कि पुरस्कार हथिया लेने पर दोनो भाग आवेंगे निकटतम अवसर पाते ही।"

"वचन पूरा किया साधु ने! तेरे ऊपर कष्ट आते ही खिसक गया वह।" दूसरे ने कहा।

तानसेनजी ने पूछा—"हीरा गायिका थी अंतःपुर की। तुम-भी जानती ही होगी। नहीं तो उसका वेश रखने का साहस होता नहीं तुम्हें।"

"हाँ, गा सकती हूँ।"

इसी समय महारानी जोधबाई की दासी ने वहाँ आकर उनका संदेश सुनाया।

बीरबल ने कहा—"दासी, तू पहचानती है हीरा को?"

"यही सामने हाथ बँधे खड़ी है।"

दासी ने हीरा के निकट जाकर कहा—"यह हीरा है?"

बीरबल ने उत्तर दिया—"हाँ, बीमार पड़ जाने के कारण इसके रूप में कुछ परिवर्तन हो गया।"

"नहीं, आप हँसी कर रहे हैं।" दासी ने कहा।

यथातथ्य ज्ञात हो जाने पर दासी चली गई अंतःपुर को।

राजसभा ने उस स्त्री के अपराध को महत्ता नहीं दी।

उसके मुख में तेल और कारिख पोतकर उसे नगर के बाहर कर दिया। केवल यही दंड उसे दिया गया।

सम्राट् डेढ़ ही महीने में गुजरात का विद्रोह दमन कर सीकरी लौट आए।

बंगाल का नवाब सुलेमान अकबर की अधीनता स्वीकार किए हुए था। उसके मरने पर जब उसका दूसरा लड़का दाऊद सिंहासन पर बैठा, तो उसनें अकबर की सर्वथा उपेक्षा कर दी। यह समाचार अकबर ने गुजरात में ही सुन लिया था। वहीं से वह बंगाल-आक्रमण के निश्चय को लेकर आया था।

उसनें अनेक योग्य सेनापतियों के अधीन दाऊद को दंड देनें के लिये सेना भेज दी। राजा टोडरमल भी उनमें से एक थे।

कवि फ़ैज़ी के छोटे भाई सुप्रसिद्ध इतिहासकार अबुल-फ़ज़ल ने अकबर की सभा में प्रवेश किया। अकबर की धार्मिक सहिष्णुता के निर्माण में उनका तथा उनके पिता का भी बहुत बड़ा हाथ रहा। उस समय अकबर अधिक विचार-विनिमय न कर सका उनके साथ।

अकबर के सेनापतियों नें पटना में घेरा डाल दिया, और सम्राट् की सेवा में स्वयं वहाँ पधारकर संचालन अपने हाथ में लेनें की प्रार्थना की।

अकबर वहाँ जाने के लिये तैयार हुआ। उसनें बहुत-सी

सेना थल के मार्ग से वहाँ भेज दी। स्वयं जल के मार्ग से जाने का निश्चय किया। नावों का बहुत बड़ा बेड़ा तैयार किया गया। सम्राट् के सुख और विलास की तमाम सामग्री साथ गई। मार्ग में अनेक कठिनाइयों का सामना कर अकबर पटना पहुँचा।

दाऊद सम्राट् का सामना करने में अक्षम, बंगाल भाग गया। उसका पीछा करने के लिये सेनापतियों को नियुक्त कर अकबर, सात महीने के युद्ध और यात्रा के श्रम के बाद, अपनी राजधानी फ़तहपुर सीकरी लौट आया।

पूर्व के प्रवास में अकबर की विजय ने अपरिमित भूमि-लाभ किया। उत्तरी भारत में अब वह प्रतिद्वंद्वी-विहीन हो गया। उसके मनोराज्य का विस्तार भी बढ़ा। दाऊद के पिता सुलेमान किरानी बड़े प्रजा-वत्सल और धार्मिक राजा थे। अकबर ने सुना, उनकी एक धार्मिक सभा थी, जिसमें सैकड़ों साधु और विद्वान् धर्म-तत्त्व की विवेचना करते थे। सुलेमान रात-रात-भर जागकर उनके विचारों का मनन करता था।

अकबर के मन में भी ऐसी ही सभा की रूप-रेखा उदित हो रही थी। सीकरी लौटकर उसने एक उपासना-गृह बनाने का निश्चय किया। राज्य के दक्ष स्थापत्य-विशारद और भवन-निर्माताओं को उसने इस काम के लिये नियुक्त किया।

सीकरी के संत के निवास के निकट भूमि छाँटी गई। शेख़ सलीम चिश्ती के एक शिष्य की गुफा थी पहले वहाँ, उसी के निकट अकबर ने महात्माजी के लिये एक मसजिद बनवाई थी।

उपासना-गृह बनकर तैयार हुआ। उसमें पहले केवल मुसलमान विद्वान् और साधक ही एकत्र होते थे। अकबर ध्यान-पूर्वक उनकी धर्म-चर्चा सुनता था।

सम्राट् ने एकता के लिये वह धर्म-सभा आरंभ की थी। उसे वहाँ भिन्नता मिली, भगवान् के नाम पर वे लोग लड़ने लगते थे। वाद विवाद का रूप रख लेता था। कभी-कभी वे लोग गाली-गलौज तक करने लगते थे। अकबर को बड़ी व्यथा पहुँची उससे।

उधर फ़ैज़ी और अबुलफ़ज़ल ने सूफ़ी-संप्रदाय के सिद्धांतों से उसकी कट्टरता के संकुचित क्षितिज को ऊँचा उठाकर विस्तृत कर दिया।

राज्य-विस्तार की यात्राओं में वह जैन, पारसी और ईसाई धर्माचार्यों के संपर्क में आया। ईसाई धर्म में पहले उसकी कुछ भक्ति न थी। राज-कर की वसूली में कुछ सत्य दिखाई दिया उसे ईसाइयों में। इस बात ने उसे उनकी ओर आकृष्ट कर लिया। उसे बताया गया कि ईसाई धर्म के मूल सिद्धांत भी सत्य और अहिंसा पर ही प्रतिष्ठित हैं।

दसवंत को रागिनी के साथ सीकरी में तीन वर्ष हो गए।

सम्राट् दसवंत की कला से प्रसन्न था। धार्मिक उदारता की वृद्धि के साथ-साथ सम्राट् की वृत्ति इतर जातियों की कला की ओर भी आकृष्ट हुई।

रागिनी बोली—"देखती हूँ, समय बड़ा भारी ज्ञात होने लगा है, किसी काम में मन की नियुक्ति न होने के कारण।"

"लेकिन चित्रों की प्रतिलिपियों से कुछ न होगा रागिनी! यह श्रम बालू पर खेती करने के तुल्य है। मैंने बार-बार तुमसे कहा है, बाहरी जगत् को पहले भीतर मन में प्रतिष्ठित करना होगा। वहाँ से जब बाहर उसकी स्थापना होगी तभी हमारा श्रम सार्थक कहा जायगा।"

"एक बार विश्वास करने लगी थी मैं इस बात पर।"

"हाँ, तब तुम्हारी रेखाओं में मुझे घनत्व दिखाई दिया था।"

"फिर न-जाने क्या हो गया।"

"मन की भावना कहीं दूसरी जगह लग गई। हमें एक भाव होने की आवश्यकता है। सत्य भीतर है और बाहर, यह जो कुछ भासमान है, उसी का प्रतिबिंब है। माया अधिक मोहित करती है, और हम सुख को बाहर ही समझते हैं।

"यह भ्रम कैसे दूर होगा?"

"क्या बताऊँ तुम्हें रागिनी! सच पूछो, तो मैं स्वयं नहीं जानता। तुम्हें दुर्बल पाकर ही यह सत्य मेरे मुख से निकल पड़ा है। वास्तव में मैं स्वयं ही पथ-भ्रष्ट हूँ। वर्ष के अधिक

महीनों में भ्रमित ही रहता हूँ। दिन के अधिक घंटों में खोया और भूला हुआ ही आयु बिताता हूँ।"

"पर मेरे लिये तो तुम बहुत हो।"

"समझता हूँ मैं, जहाँ तक दृश्य जगत् का संबंध है, वहाँ तक समझना भी कठिन नहीं। यही जब सूक्ष्म होकर मन का विषय हो जाता है, तब भाषा फिर थोड़ी दूर तक साथ देती है, और अधिक दूर तक भक्ति।"

"किसकी भक्ति ?"

"किसी की भी हो। वही बल है, प्रतिमा केवल एक संकेत।"

"तुम्हारी प्रतिमा में क्या है ?"

"यह भी मैंने तुमसे अनेक बार कहा है।"

"ठीक स्मरण नहीं। फिर सुनना चाहती हूँ।"

"मेरी प्रतिमा में तुम हो। सारे संसार से तुम्हारे संबंध तोड़कर मैंने तुम्हें इस कारागार में बंदी कर रक्खा है। तुम्हें ही खोज रहा हूँ। सम्राट् की नौकरी, यह केवल एक बहाना है। संसार की जिज्ञासा से बच निकलने का एक मार्ग।"

"मैं तुम्हारे ही निकट हूँ, फिर मेरी कैसी खोज ?"

"अंतर्जगत् में रागिनी! अंतर्जगत् में।"

"अंतर्जगत् में प्राप्त कर फिर क्या होगा ?"

"फिर अपूर्णता न रहेगी।"

"और फिर तुम इस रागिनी को छिलके की भाँति दूर फेंक दोगे। घोर स्वार्थ !"

"नहीं रागिनी !" दसवंत ने उसका हाथ पकड़ लिया। "तुम अभी माया के जगत् में ही हो। माया से घृणा करने की भी बात नहीं है। उसमें हमारे स्वरूप की परिच्छाया है। उसमें देखकर ही हमें अपने असलीपन का पता चलता है। पर जैसे अपना रूप देख लेने पर दर्पण अलग रख दिया जाता है, ऐसे ही इस इंद्रियों के जगत् को उठाकर मन में प्रविष्ट करो, तो फिर उसका आकर्षण रह ही न जायगा। तुम्हारे रूप को आवरण समझने से पहले क्या मैं अपने दैहिक निर्माण को भौतिक तत्त्वों का संग्रह न समझ लूँगा ?"

रागिनी विचार में पड़ी थी।

"कलाकार प्रत्येक साधक के समकक्ष है। वह बाहरी जगत् को मन में उपजाकर फिर उसे बाहर प्रकट करता है। यही उसकी दुर्बलता है, यही उसका अहंकार। जब वह अकेला ही द्रष्टा रहने लगता है, तो फिर वह मार्ग में आगे बढ़ने लगता है।"

"कैसे फिर ?"

"विश्वास रक्खो, समय धीरे-धीरे अपना भेद खोल देगा।"

रागिनी ने चौकी पर पड़ा हुआ एक चित्र-फलक उठाया।

दसवंत ने उस पर अपना हाथ रख दिया—"बिना मन में

स्पष्ट देखे एक भी रेखा न बढ़ाओ। यदि मन में दिखाई नहीं देता, तो और भी एकांत में जाकर आँख बंद कर देखो।"

"क्या देखूँ?" रागिनी के अधर-कोणों पर हँसी उपजने लगी।

"तुम समझती हो, कुछ दिखाई नहीं देता।"

रागिनी का कुछ ऐसा ही मतलब था, पर वह नीरव रही।

"स्वप्न दिखाई देते हैं न तुम्हें?"

"हाँ।"

"कितने स्पष्ट और कितने सत्य संवेदन वह हमें दे जाते हैं! देश, काल और पात्र अपनी संपूर्ण वास्तविकता में हमारे सामने आते हैं। हमारा मन ही तो उसका स्रष्टा है न?"

रागिनी कुछ गंभीर होने लगी।

"उस स्वप्न को असत्य न समझो। वह जागृति में भी देखा जा सकता है, उसे जागृति में देखने का प्रयत्न करो।"

रागिनी आँखें बंद कर कुछ ध्यान करने लगी।

"क्या देख रही हो?"

"केवल अंधकार।"

"ठीक है, कुछ देखा तो सही।"

"अंधकार भी कुछ देखना हुआ!"

"हुआ कैसे नहीं? अंधकार ही तो प्रकाश का साक्षी है

कार्य देखा तुमने, उसका कारण भी मिल जायगा। कारण ही प्रकाश है। जब प्रकाश है, तभी तो अंधकार है।"

अकबर ने कहा—"अबुलफ़ज़ल, मेरे विचारों की बहुत संगति है तुम्हारे विचारों से। मैंने शांति के लिये उपासना-गृह का निर्माण किया था, वहाँ कलह मिला। वहाँ प्रत्येक मनुष्य अपने ही दृष्टि-कोण को सत्य समझता है। मैं तो समझता हूँ, उदारता ही धार्मिकता है।"

"निस्संदेह महाराज! असहिष्णु व्यक्ति ऊँचा उठ नहीं सकता।" अबुलफ़ज़ल ने कहा—

देखा तुझे प्रतिमा के दर्शकों में, मंदिरों में,
जातियों की भाषाओं में सुना तेरा गुणगान;
एकेश्वरवाद और अनेकेश्वरवाद, ये
दोनो ही कर रहे हैं तेरा ही अनुसंधान।
सभी धर्म कहते हैं, तू ही प्रभु सर्वश्रेष्ठ,
अप्रमेय, अप्रतिम, अनुपम, अप्रमाण;
मस्जिद में शेख़ तुझे ही दे रहा है अजान,
गिरजे में भी प्रकाश तेरा ही है भगवान!

"ठीक है। सत्य प्रत्येक धर्म में है। अपने धर्म को ठीक और दूसरे के धर्म को अशुद्ध समझना धार्मिकता नहीं, धर्म-मूढ़ता है। दूसरे के धर्म का हम उदारता-पूर्वक अध्ययन नहीं करते, इस कारण हमें व्यापक सत्य के दर्शन नहीं होते।"

"हाँ महाराज ! इसी से हमारा जप-तप एकदेशिक हो जाता है । हमारी कट्टरता पाखंड हो जाती है, और हमारे विश्वास में भ्रम बढ़ जाता है । जिसे ढूँढ़ते हैं हम, वह दूर ही रहता है । सत्य-सत्य पुकारते हैं हम केवल, प्रयोग में नहीं रहता वह हमारे । सूफ़ी-संप्रदाय प्रत्येक धर्म का आदर करता है । इससे वह उदार है ।"

"परंतु पूर्णता किसी भी धर्म में नहीं है ।"

"यदि मैं यह पूर्णता सूफ़ियों में है कहूँ, तो कदाचित् यह मेरा अहंकार हो ।"

"हिंदुओं के वेदांत में भी वही तत्त्व है । केवल कहने का ढंग कुछ दूसरा है । अबुलफ़ज़ल ! कितना सुंदर यह भारतवर्ष है । प्रकृति और मनुष्य, दोनो ही ने इसका शृंगार किया है, पर विजेताओं के कठोर पदाघातों से क्षत-विक्षत ! मैं इसे अक्षत कर देना चाहता हूँ ।"

"वह संभव है महाराज !"

"कैसे ?"

"इसकी एक भाषा और इसका एक भगवान् बनाकर ।"

"वह भी कैसे ? हिंदू अपनी भाषा और भगवान् को सर्वश्रेष्ठ बताते हैं, मुसलमान अपनी और ईसाई अपनी ।"

"सब धर्मों की सार वस्तु लेकर एक मानव-धर्म की रचना कीजिए महाराज ! इसी प्रकार समस्त भारत के विद्वानों की

भी एक सभा बनाइए कि वे सब भाषाओं की श्रेष्ठता से एक मानव-भाषा का निर्माण करें।"

"मानव-धर्म के सर्वमान्य सूत्र ढूँढ़ लिए जा सकते हैं। क्या तो एक भाषा भी वैसे ही बनाई जा सकेगी? बन भी जाय, क्या राज-भय से वह प्रजा के ऊपर लाद दी जा सकेगी?"

अबुलफ़ज़ल चुप रहा।

"कैसा होता, यदि सारी मानवता एक नाते में बँध जाती, और सारा विश्व एक परिवार हो जाता। यदि यह नहीं, तो कम-से-कम भारतवर्ष तो एक किया जा सकता है।"

"असंभव कुछ नहीं है महाराज! एक करने के लिये एक सूत्र चाहिए।"

"फिर वही बात आ गई। भाषा कौन-सी, धर्म कौन-सा? हिंदू दाहनी ओर को लिखता है, मुसलमान बाईं ओर को। हिंदू पूर्व की ओर मुँह कर अपने भगवान् को पुकारता है, और मुसलमान पश्चिम की तरफ़।"

"यह कोई अंतर नहीं। पूर्व ही आगे बढ़कर पश्चिम हो जाता है। पर कठिनता है, अधिकांश जनता इस रहस्य को नहीं समझती।"

"एक बात है अबुलफ़ज़ल! आफ़्रिका का मुसलमान पूर्व की ओर मुँह करता है, और बीरबल ने मुझसे कहा है, हिंदू को शाम की संध्या के समय पश्चिम को मुँह करना चाहिए।"

"क्यों?"

"उन्होंने अपनी उपासना को सूर्य से संबद्ध किया है। सूरत की चढ़ाई में जब पारसी-गुरु दस्तूर मेहरजी राना से मेरी भेंट हुई थी, उन्होंने मुझे पारसी धर्म के अनेक मूल-सिद्धांत बताए थे। सूर्य और अग्नि की उपासना उसमें मुख्य थी।"

"वास्तव में सूर्य से बढ़कर और ज्वलंत प्रतीक भगवान् का कुछ भी नहीं।"

"सबसे पहले इस पर मेरा ध्यान गया था महारानी जोधबाई की पूजा में। एक भगवान् सभी धर्म मानते हैं। अनेकेश्वरवादी भी अंत में सबसे बड़े ईश्वर की कल्पना करते हैं। भगवान् अगोचर हैं, उन्हें इंद्रियगम्य करने को एक प्रतीक चाहिए। वह प्रतीक, अबुलफ़ज़ल !"

"हाँ महाराज !"

"वह प्रतीक सूर्य का नहीं हो सकता क्या ?"

"हिंदू और पारसी स्वीकार कर लेंगे इसे, पर क्या यह मुसलमान और ईसाइयों को भी मान्य होगा ?"

"तुम क्या समझते हो ?"

"मुसलमान अपने चंद्रमा को और ईसाई अपने क्रॉस को छोड़कर सूर्य को ग्रहण करने में अवश्य आनाकानी करेंगे।"

"करनी न चाहिए। सूर्य चंद्रमा से स्पष्टतः अधिक बलशाली ग्रह है। क्रॉस की विदिशाओं पर एक क्रॉस और

रख दें, तो क्या वह सूर्य को व्यक्त नहीं करता ? धर्म की कोई बात नहीं, सब धर्मों में व्यापक सूत्र हम खोज लेंगे। भाषा का क्या होगा ? यही जटिल प्रश्न है। बिना भाषा एक किए एकता न हो सकेगी।"

छ

उपासना-गृह की स्थापना के बाद प्रायः साल-भर तक अकबर का जीवन शाँति के साथ बीता। बंगाल में दाऊद ने संधि-भंग कर विद्रोह आरंभ किया था, उसका शिरच्छेदन कर अकबर के पास डाल दिया गया। मेवाड़ के महाराणा प्रताप-सिंह ने जन्मभूमि की स्वतंत्रता के लिये फिर प्रयास किया, मानसिंह के सेनापतित्व में उनका सामना करने के लिये सम्राट् ने सेना भेजी। हल्दीघाटी के मैदान में महाराणा की पराजय हुई, पर वहाँ जिस भक्ति, वीरता और बलिदान का निदर्शन हुआ, वह जातियों के इतिहास की एक अमर और पवित्र घटना है।

अकबर रात-रात-भर जागकर विचार करता, कैसे इस भारतवर्ष की मानवता को एक कर दूँ! वह चारो ओर विजय देने के लिये भगवान् को धन्यवाद देता।

सम्राट् सारे भारत की एकता के स्वप्न देखता था। उपासना-गृह के कलह से बेचैन हो उठा। उपासना-गृह में केवल मुसलमान-धर्म के भिन्न-भिन्न संप्रदायों का ही प्रति-निधित्व था, वहाँ दो विरोधी दल उपज गए। जो बाद-

विवाद में लड़ने-मरने को भी तैयार हो जाते। अकबर उनके समझौते का प्रयत्न करता, पर सफल न हो सका।

अंत में अकबर ने निश्चय किया, ये दोनो दल अज्ञानी हैं, इनमें अनुदारता है। उसने उपासना-गृह के द्वार संसार के समस्त धर्मों के लिये मुक्त कर देने का निश्चय किया। उसने अनुभव किया, बिना संसार के मुख्य धर्मों के समन्वय के मानव-धर्म का सूत्रपात हो नहीं सकता।

उपासना-गृह की स्थापना के तीन वर्ष बाद अकबर पंजाब गया। अनेक राजनीतिक प्रबंध करने के बाद एक दिन वह झेलम-नदी के किनारे शिकार खेल रहा था। प्राय: पचास मील के घेरे में हाँका लगाया गया था। कई दिन हाँके में लग गए थे। अचानक ठीक शिकार करने के समय अकबर की भावना बदल गई!

कदाचित् भगवान् बुद्ध के बाल-काल की भावना के समान—"इन निर्दोष, वाणी-विहीन प्राणियों ने मेरा क्या बिगाड़ा है?"

सम्राट् ने तत्क्षण ही हाँका लगानेवालों को घेरा तोड़ देने की आज्ञा दी। उसने हथियार फेक दिए। एक अद्भुत आभा से उसका मुख-मंडल खिल उठा। वह एक अवर्णनीय आनंद में एक वृक्ष के नीचे पड़ गया। सम्राट् ने उस स्वर्गीय स्थति का रहस्यमय शब्दों में वर्णन किया। कुछ लोगों ने कहा, सम्राट् भगवान् के प्रत्यक्ष संपर्क में आए। कुछ ने कहा,

उन्होंने स्वप्न देखा, और कुछ ने धीरे-धीरे यह भी कहा कि वह मृगी का दौरा था। और, कुछ ने यहाँ तक कह डाला कि सम्राट् ने बहुत शराब पी ली थी।

सम्राट् ने उस वृक्ष के नीचे बहुत-सा सुवर्ण दीन-दुखियों को दान किया। उस ज्योति-दर्शन की स्मृति के स्वरूप एक विशाल भवन और विस्तृत उपवन बनाने के लिये आज्ञा दी वहाँ पर।

वह आनंद-पुलकित होकर सीकरी लौटा। उसके राज-भवन में जल-केलि के लिये बना हुआ अनूपताल-नामक एक सरोवर था। उसने उसको जल से रिक्त कर सोने-चाँदी के सिक्कों से भर दिया। समकालीन इतिहासकार ने लिखा है, उस धन का जोड़ लगभग दस लाख रुपए था। अकबर ने वह धन भी दीन-दरिद्रियों को बाँट दिया।

सम्राट् ने अपने शयन-कक्ष की अंतरंग सभा में कहा—"अलौकिक दृश्य मैंने देखा, जो भाँति-भाँति के नाद के शांत होने पर मेरी आँखों के सामने एक विचित्र प्रकाश में चमककर मेरी चेतना में समाया। मैं उसे स्वप्न न कहूँगा। बहुत ठोस और प्रत्यक्ष उसका मैंने अनुभव किया।"

फ़ैज़ी बोला—"सूफ़ी-साधुओं ने इसे भगवान् का निकट संपर्क कहा है।"

बीरबल ने कहा—"हाँ महाराज, हमारे योग में भी इसे

समाधि की अवस्था कहते हैं। एक अनिर्वचनीय और अलौकिक आनंद में निमग्न हो जाता है साधक।"

अकबर ने कहा—"पानीपत के युद्ध के वाद, जब मैं केवल पंद्रह वर्ष का था, एक वार कुछ ऐसा ही अनुभव हुआ था। तब इतना स्पष्ट नहीं दिखाई दिया। आज इक्कीस वर्ष के पश्चात् जो हर्ष मिला, वह पंजाब, राजपूताना, गुजरात और बंगाल की किसी विजय में नहीं मिला। मैंने देखा, मेरी नाना वर्ण और संप्रदायों की प्रजा एक मुख और एक भाषा में जिस भगवान् की वंदना कर रही थी, वह सूर्य से भी अधिक तेजवान् था। मैंने सब धर्मों के महापुरुषों के दर्शन किए। उन्होंने मुझे पुकारा, और मेरी ओर संकेत किया।"

अबुलफ़ज़ल बोला—"निस्संदेह महाराज दैवी संपर्क में आए हैं। आपकी साधना ही फलीभूत होकर आपके सामने आकर अपने को दिखा गई।"

फ़ैजी ने कहा—"महाराज, मैंने संस्कृत के ग्रंथों में पढ़ा है, देश और काल, ये दोनो एक भ्रम है। योगी त्रिलोक और त्रिकालदर्शी, दोनो हो सकता है।"

अकबर बोला—"तुम उन ग्रंथों का भी फ़ारसी में अनुवाद करो।"

"जैसी आज्ञा हो महाराज।"

"उपासना-गृह को स्थापित किए तीन साल हो गए। इस अवधि में उसने मुझे बड़ी अशांति दी। इस निर्णय पर

पहुँचा हूँ, वह एकांगी है, संकुचित है। कल ही से अब उसके द्वार भारतवर्ष के प्रत्येक धर्म और संप्रदाय के लिये मुक्त होंगे। बिना इन सबका समुच्चय किए हम मानव-धर्म के निष्कर्ष तक नहीं पहुँच सकते।"

गुजरात की चढ़ाई में अकबर का पारसी गुरु दस्तूर मेहरजा राना से परिचय हुआ था। जरथ्रुष्ट-संप्रदाय का उन्होंने उस छोटी-सी भेंट में जो कुछ रहस्य खोला था, उस पर अकबर की बड़ी भक्ति हो गई थी।

उपासना-गृह को मुक्त-द्वार कर देने के बाद सम्राट् को उन पारसी गुरु का स्मरण हुआ। वह गुजरात से बुलाए गए। उन्होंने उपासना-गृह के वादों में भाग लिया, और अकबर को पारसी धर्म के मुख्य तत्त्वों का ज्ञान दिया, जिनमें सूर्य और अग्नि की उपासना की विशेषता थी।

पंडित बीरबल भी सूर्योपासक थे, और महारानी जोधबाई भी नित्य सूर्य को अर्घ्य देती थीं। उनके महल में होम भी होता था। यद्यपि यह कुछ भिन्न प्रकार का था, तथापि मूलतः इनमें समता थी। इन कारणों से भी पारसी अग्नि और सूर्य-पूजा ने सहज ही अकबर के मन में घर कर लिया।

पारसी-प्रथा के अनुसार अकबर के महल में एक अग्नि-कुंड की स्थापना की गई। उसकी अखंडता का उत्तरदायित्व अबुलफ़ज़ल को सौंपा गया।

दसवंत ने रागिनी से कहा—"रागिनी, सीकरी में आए हमको ६ वर्ष हो गए। समय के जब इतने बड़े भाग पर विचार करता हूँ, तो निराश हो उठता हूँ। हम अपने लक्ष्य की ओर एक पग भी नहीं बढ़े। केवल सम्राट् का भार वहन किया, केवल सुवर्ण के कुछ सिक्कों में ही विचार केंद्रित रहा।"

"चित्रकार की भावुकता के लिये ये सर्वथा हानिकर विचार हैं। भोगों में लिप्त हो जाना ही बंधन है, नहीं तो चित्रकार, हमारी गति का बाधक कौन है?"

रागिनी की केवल इतनी ही ताड़ना से दसवंत की विचार-धारा घनात्मक हो गई—"आज कुछ देर हो गई रागिनी। सम्राट् ने उपासना-गृह को भारतवर्ष के समस्त धर्मों के लिये खोल दिया है। उन्होंने मुझसे भी वहाँ चलने का आग्रह किया।"

"आज्ञा नहीं दी?"

"वह कैसे टाली जा सकती?"

"गए क्यों नहीं फिर?"

"श्रद्धा नहीं, विश्वास नहीं, फिर जाने से किसी को क्या लाभ?"

"होता क्या है वहाँ?"

"नाम उसका उपासना-गृह है, पर है वह एक प्रकार की धर्म-सभा। अब उसका उद्देश्य है सब धर्मों का

आपस में मेल कराना, और सबके मुख्य-मुख्य तत्त्वों का अनुसंधान करना।"

"उद्देश्य में उदारता है।"

"पर, सुनता हूँ, वहाँ हुल्लड़ ही रहता है। मेरी धारणा है, बात को केवल एक आदमी विचारता है। बीस प्रकार के मनुष्य बीस पथों की ओर लक्ष्य करते हैं। धर्म का विषय बड़ा गूढ़ है। मेरा तो विचार है, सारे संसार का एक ही धर्म बना देने का जो प्रयास है, वह अज्ञान है। गंगा की रेत पर रहनेवाले की जो ईश्वर-कल्पना होगी, वह अवश्य ही हिमालय के निवासी की-सी हो नहीं सकती।" एकाएक दसवंत ने रागिनी के मुख पर देखा। उसकी दृष्टि जैसे उसके नेत्रों पर जुड़ गई। चित्रकार ने उसके राग-रंजित, नृत्य की मुद्रा में उत्तोलित हाथ पकड़ लिए।

हाथ छुड़ाकर रागिनी तत्क्षण ही पीछे हट गई—"क्या-क्या, तुम आज फिर ?"

"हाँ रागिनी, तुमसे झूठ कभी नहीं बोला हूँ।"

"तुम क्या ?" रागिनी ने सस्मित कंठ फिर जिज्ञासा की।

"हाँ रागिनी ! मैं आज आसव पीकर आया हूँ।"

"तुमने न पीने की प्रतिज्ञा की थी।"

"हाँ, सुंदरी ! पर—"

"इसके अतिरिक्त भी तुमने संकल्प किया था कि मैं नारी का भी स्पर्श न करूँगा।"

"परंतु हे रूपसी ! कलाकार की नैतिकता बिलकुल ही दूसरी वस्तु है।"

"मैं इसे उच्छृंखलता कहूँगी। तुम्हें तुच्छ मनोवृत्ति का दास कहूँगी, उच्च मनोवृत्ति का राजा नहीं।"

"कुछ छिपाया नहीं मैंने तुमसे रागिनी ! किसी से भी नहीं। इसीलिये यह मुझे नहीं व्यापते।"

"फिर क्यों तुम्हारा पथ अवरुद्ध है ? तुमने बार-बार मेरे समीप अपनी पराजय स्वीकार की है। तुमने कहा है, कला की जो सुलभ सिद्धि है, उसकी छाया भी नहीं पड़ी कभी मुझ पर। सच है न यह ?"

"हाँ रागिनी ! सत्य ही है यह। यह कला की जूठन भी नहीं है, जिससे मैंने राजसभा के रत्नों को अंधा बनाया है।"

"तुमने एक दिन कहा था कि मुझे पा लेने पर तुम अनावृत कर लोगे कला-मंदिर के द्वार।"

"नहीं हो रहे हैं !" उदास स्वर में कलाकार ने कहा।

"हाँ, नहीं हो रहे हैं ?"

"दुर्बलता कहाँ पर है ?"

"मानोगे ? बता दूँ ?"

"खाने-पीने की वस्तुओं में न मानूँगा।"

"न लूँगी उनका नाम भी।"

"फिर ?"

"तुम्हारे अनुसंधान में ही त्रुटि है।"

"कहाँ पर ?"

"एक ही स्तर पर नहीं खोज रहे हो तुम प्रतिमा को।"

"अर्थात् ?"

"कभी भौतिक जगत् में ढूँढ़ते हो और कभी मानसिक में।"

"पर यह केवल मेरी ही दुर्बलता नहीं, मनुष्य-मात्र की है। जगत् की खोज में श्रांत हो जाने पर मन अपनी ओर खींचता है। मनके थक जाने पर पार्थिवता आकृष्ट करती है।"

"मैं कहूँगी चित्रकार ! कला की साधना इंद्रिय-लोलुपता नहीं है।"

"इंद्रियों के आकर्षण से बचकर भाग निकलने से उन पर विजय नहीं मिल सकती। वे तो भिड़कर ही जीते जा सकते हैं। केवल विवेक का दीपक जगा रहना चाहिए। अनुभवजन्य ज्ञान अधिक सत्य और अधिक स्थायी होता है। एक बात और है, कला द्वारा जो रस-तृप्ति होती है, क्या वह इंद्रिय-जन्य नहीं ?"

रागिनी कुछ सोचने लगी—"लेकिन वह उच्चतर इंद्रियों का व्यापार है।"

"सब समान हैं। जब निम्नतर इंद्रियाँ श्रम करती हैं, तभी तो उच्चतर इंद्रियों का पोषण होता है, तभी उनकी स्थिति भी है।"

"तुम आज भ्रमित हो चित्रकार !"

"भ्रमित होना भी एक अनुभव है रूपसी ! ठोकर ही ने

हमें निर्बाध गति दी है। दुग्ध-स्नात आज इस शरद् की निशा में रागिनी !—भ्रम सत्य से अधिक मनोहर प्रतीत होता है। आज भ्रमित ही हो जाने दो।" कहकर दसवंत ने फिर रागिनी का गौर-कोमल हाथ पकड़ लिया।

"छोड़ो, महाराजिन आती होगी।" हाथ छुड़ा लिया उसने।

"इतने दिन हो गए उसे हमारे यहाँ। क्या वह हमारे संबंध को नहीं जानती ?"

"मैंने उससे कभी नहीं कहा कि मैं तुम्हारी पत्नी हूँ।"

"विवाह होने से ही क्या होता है ?"

"कैसा अस्थिर भाव है आज तुम्हारा ? अभी आते-आते तुम अपने जीवन की जड़ता पर चिंताशील थे, और किस वेग से तुमने अभी दूसरी विरोधी दिशा पकड़ ली।"

"तुम्हारा कथन सत्य हो सकता है। पर यह उन्माद मेरे वश का नहीं। इसे बंधन से शिथिल नहीं करूँगा। इसकी भी अवधि है, इसे स्वयं ही बीत जाने दो।" कहकर दसवंत फिर उसका हाथ पकड़ने लगा।

रागिनी कक्ष में भागने लगी।

"दौड़ना व्यर्थ परिश्रम है, जा कहीं सकती नहीं।" दसवंत के हाथ से रागिनी का हाथ छूट गया, पर उसकी बाँह पर का अंचल आ गया उसके अधिकार में।

"छोड़ो।" रागिनी ने भ्रू-कुंचन के साथ कहा।

"एक क्षण ठहरो रागिनी ! देख लेने दो। नारी-शरीर की स्वाभाविक रेखा अत्यंत मधुर है। रूप के लिये सारी प्रकृति उसी के अनुपात लेती है।" दसवंत उसका अंचल खींचने लगा।

"इतने निर्लज्ज तुम पहले नहीं थे।" रागिनी ने जोर से अपनी चादर खींच ली। उसके हाथ आ गई, पर वह लड़-खड़ाकर चित्रकार की एक चौकी पर गिर पड़ी।

चौकी पर एक चित्र, रंग और तूलिकाएँ थीं। एक रंग-पात्र उलट गया उस चित्र के ऊपर, और सारा चित्र विवर्ण होकर नष्ट हो गया!

रागिनी ने हतप्रभ होकर उस चित्र को हाथ में उठा लिया, उसने दसवंत की ओर देखा—"चित्र!" रागिनी उस पर गिरे हुए रंग को अपनी चादर के कोने से पोंछने लगी।

दसवंत ने उसके हाथ से चित्र ले लिया—"रहने दो, कुछ नहीं हो सकता अब। चादर क्यों मैली कर रही हो?"

"मैं समझती थी, तुम न-जाने कितने क्रुद्ध हो जाओगे।"

"यही चाहिए भी था इस चित्र को।"

"इस चित्र की छवि को अनावरणा बनाकर तुम नारी का अपमान कर रहे थे। ठीक ही हुआ, रंग ने गिरकर उसका शील ढक लिया।"

दसवंत ने फिर रागिनी का अंचल पकड़ लिया।

"क्या हो गया तुम्हें ? बड़ी पवित्रता से तुम अपना व्रत निभा रहे थे। कला के पथ पर मैं तुम्हें दिन-दिन बढ़ता हुआ ही देख रही थी। छोड़ो निर्लज्जता।" रागिनी अपना वस्त्र छुड़ाने लगी।

"अब नहीं छुड़ा सकतीं तुम। अब मैं सावधान हूँ।"

"अभी रंग सूखा नहीं था। कोई उपाय करते कि इस चित्र का पुनरुद्धार होता।"

"नहीं खुल सकता वह चित्र। मैं मूर्ति को क्यों न खोलूँ ?"

"क्या पागल हुए हो तुम आज ? छोड़ दो मेरा अंचल। देखो, अब महाराजिन आती ही होगी। मैंने तुम्हें इतना शिथिल-प्रतिज्ञ नहीं समझा था।"

"प्रतिज्ञा नहीं, वह एक पाखंड था। तोड़ दिया मैंने उसे आज।"

"मैं नहीं समझती, वह पाखंड था। मेरी समझ में तुम सच्चाई से उसे निभा रहे थे।"

"केवल इस जगत् पर। मानसिकता में इस खंडित प्रतिज्ञा का भार वहन करते-करते थक गया। इसी से इसे पाखंड कहता हूँ।"

"किसका चित्र है यह ?"

"उपासना-गृह की एक भीति पर अंकित करने के लिये यह एक नमूना बनाया था।"

"उपासना-गृह के लिये ?" विस्मित होकर रागिनी ने पूछा।

"हाँ।"

"ऐसा चित्र ?"

"हाँ, ऐसा चित्र कि उसके भीतर एकत्र होकर हल्ला करने-वालों का पाखंड दलित हो।"

"धर्म-सभा में अंकित होने योग्य है क्या फिर तुम्हारा यह चित्र ? इसे देखकर कैसे भाव हो जाते दर्शकों के ?"

"इसे देखकर उनकी दृष्टि परिष्कृत रहती।"

"तुमने अधिक भंग सेवन की है क्या ?"

"नहीं, केवल प्रतिज्ञा तोड़ने-भर को। राजसभा में आज मेरा भारी अपमान हुआ है रागिनी !"

"ऐसे हीन विचार रखकर कौन आदृत होगा विद्वानों की सभा में ?"

"सम्राट् ने आज स्पष्ट शब्दों में उसे इस समय की भारतीय शैली का सर्वश्रेष्ठ चित्रकार कह दिया।"

"किसे ?"

"उसे, मेरे चिर-प्रतिद्वंद्वी चित्रकार बसावन को, मेरे लिये डूब मरने की बात है।"

"उपासना-गृह के लिये ऐसा आदर्श-हीन चित्र बनाने पर राजा ने तुम्हें कठिन दंड नहीं दिया, सौभाग्य समझो। आत्मगौरव गँवाकर आए हो। इसीलिये क्या नारी की लज्जा का हरण प्रिय हो उठा है ?"

"आवरण-हीन स्वाभाविक रेखाएँ, रागिनी ! मनुष्य ने इसे ढककर कृत्रिम बना दिया है।"

"न-जाने क्या बक रहे हो आज ! ऐसा विशृंखल तुम्हें कभी नहीं पाया था।"

"एक ही विचार में हूँ रागिनी ! तुम्हें ही न-जाने क्या हठ हो गया है एक कृत्रिम आवरण का।"

"मुझे भले प्रकार स्मरण है, तुमने एक दिन कहा था, और मैं इसे शाश्वत सत्य समझती हूँ।"

"क्या ?"

"यही कि विचार में सब कुछ है, और वहीं खोजने पर सब सुलभ है।"

"हाँ, अब भी कहता हूँ।"

"फिर जैसा चाहो, ध्यान में वैसा अनुभव कर सकते हो।"

"तीसरा परिमाण चाहिए विचार जगाने के लिये।" कह-कर दसवंत ने फिर उसका हाथ पकड़ लिया।

"क्या आवरण में तुमने ही नहीं छिपा रक्खा है मुझे ?"

"तुम्हारी अनुमति से ही। फिर वह आवरण जगत् के नेत्रों के लिये है, मेरे नेत्रों के लिये नहीं।"

"तुच्छ इंद्रियों के सुख के लोभी कलाकार ! तू अपने उच्च आसन से पतित हो रहा है।" छुड़ा लिया उसने अपना हाथ।

"मैं उठ जाऊँगा फिर वहीं पर। भौतिकता तुच्छ वस्तु है।"

"फिर क्यों उसके लिये इतने मूढ़ हो रहे हो ?"

"नहीं जानता । हमारे जीवन के इन पिछले ६ वर्षों में क्या तुमने मेरे संकल्प में कभी दृढ़ता नहीं पाई ?"

"पाई है, तो कह रही हूँ।"

"परंतु उससे कुछ हुआ नहीं। मन की कल्पना पर मेरा कुछ भी अधिकार नहीं हुआ। उन दिनों यह समझता था, सारी भौतिकता का बीज मन में है, परंतु जल के विस्तार पर की परिच्छाया के लिये जैसे दृश्य धरती पर हैं, ऐसे ही विचार-सागर की छायाओं का मूल भी वहीं पर है।"

"तुम दुविधा में पड़ गए !"

"निशा की गंभीरता से चाँदनी और भी लहक उठी है। आज चित्र के लिये आवेश नहीं रहा रागिनी ! कोई गीत गा दो।" दसवंत ने फिर रागिनी का हाथ पकड़ लिया।

"देखो, सुनो, कोई आया है।"

इसी समय बाहर के द्वार पर का शृंखल झंकारित हुआ।

"हाँ, आया।"

रागिनी भीतर चली गई, और दसवंत द्वार मुक्त करने को उठा।

द्वार मुक्त कर उसने देखा, हाथ बाँधे चित्रकार बसावन खड़ा है। वह दसवंत के पैरों पर गिर पड़ा—"क्षमा करो।"

"कैसी क्षमा ?" दसवंत ने उसे उठाकर गले से लगा लिया—"कैसी क्षमा मित्र ! तुमने बिगाड़ा क्या है मेरा ?"

दोनों बैठक में आए।

"राजसभा में कदाचित् तुमने अपना अपमान अनुभव किया हो। पर मुझे उसका कारण न समझो।"

"बसावन !" दसवंत ने आश्चर्य की मुद्रा में उसके हाथ पकड़कर उसे अपने आसन पर बिठाना चाहा—"तुम सच्चे कलाकार हो, तुम्हारी उदारता ने तुम्हें ऊँचा उठाया है, बैठो।"

"नहीं, इस आसन पर बैठ जाना दुःशीलता होगी। तुम्हारी बराबरी नहीं कर सकता मैं। चित्र तुम्हारा ही सुंदर है।"

"पर सम्राट् को वह पसंद नहीं आया।"

"जगत आवरण चाहता है, इसीलिये विशुद्ध सत्य सहन कर सकने का स्वभाव नहीं है उसका। राजसभा ने जो मेरा चित्र छाँटा है, उसमें केवल सजावट, कृत्रिमता और आडंबर के सिवा और कुछ भी नहीं।" बसावन ने आसन ग्रहण किया।

"क्या धारणा है तुम्हारी ? सम्राट् सारे भारतवर्ष की आबादी एक धर्म में दीक्षित कर लेंगे ?"

"मैं नहीं कह सकता।"

"तुम उपासना-गृह में जाते हो ?"

"हाँ, जाना पड़ता है। तुम्हें कभी नहीं देखा वहाँ।"

"सम्राट् का कोप-भाजन होने का एक कारण यह भी है।"

"क्यों नहीं जाते ?"

"केवल समय नष्ट होता है वहाँ। क्या हाल हैं वहाँ के, सबके लिये उसके द्वार खोल देने पर क्या कुछ रंग बदला है उसका ?"

"मुझे तो और भी विषमता दिखाई देती है। कहाँ है वह चित्र, जो तुमने बनाया था ?"

दसवंत ने हँसकर वह चित्र उठाया, बसावन को दिया

"यह क्या, इसे कुरूप क्यों कर दिया ?"

"दैव-संयोग ! केवल दैव-संयोग ! मित्र मेरे !"

"अब क्या होगा ?"

"शांत और शून्य एकांत ही मेरा उद्देश्य है।"

"वहाँ क्या करोगे ?"

"कोई बुला रहा है, जैसे वहीं से। मैं राजा के पुरस्कार और उसकी प्रशंसा का भार यहीं छोड़ जाऊँगा। मैं काटने लगा हूँ और भी कुछ भौतिक जगत् के बंधन !"

"नहीं, रहिए यहीं। मैं सम्राट् से प्रकट शब्दों में अपनी सारी दुर्बलता खोल दूँगा। मैं कहूँगा, दसवंतजी से बढ़कर भारतीय शैली का और कोई दूसरा चित्रकार नहीं है आपके राज्य में। उपासना-गृह के भीति-चित्र उन्हें ही पूरे करने दीजिए।"

"यदि तुमने ऐसा कहा, तो सम्राट् कभी न मानेंगे। मैं जानता हूँ उनके स्वभाव को। हाँ, तुम इस बात से मुझे और भी शीघ्र अकबर के राज्य के बाहर कर दोगे।"

वसावन उठने लगा—"अच्छा, न कहूँगा कुछ। केवल इतना ही कहने को आया था। आपके प्रति मेरे जो सम्मान के भाव हैं, उन्हें प्रकट कर दिया।"

वसावन बिदा होने लगा, उस रंग में खोई हुई नारी का चित्र वहीं छोड़कर।

दसवंत उसे द्वार तक पहुँचाने गया। बसावन के जाते ही महाराजिन भी आ पहुँची। सलीम की नवीं सालगिरह थी आज। महारानी के निमंत्रण में गई थी वह।

"बड़ी देर हो गई।"

"हाँ, महारानी आज वहीं रहने का आग्रह कर रही थीं।"

सम्राट् अकबर ईसाई-धर्म का तत्त्व जानने के लिये व्यग्र हो उठा। उसने गोआ में पुर्तगाल के राजप्रतिनिधि के पास पत्र लेकर अपना राजदूत भेजा।

पत्र का मर्म इस प्रकार था—"सम्राट् अकबर की इच्छा है कि आप दो विद्वान् पादरियों को इस दूत के साथ मेरी राजधानी में भेज दें। वे अपने साथ ईसाई धर्म की पुस्तकें भी ले आवें। ईसाई-धर्म को समझना चाहता हूँ पूर्णरूपेण। यहाँ उन्हें विशेष आदर के साथ रक्खा जायगा।"

गोआ के अधिकारी बहुत समय से मुग़ल-राज्य के भीतर बाइबिल का प्रचार करना चाहते थे, और असफल ही रहे थे। अचानक स्वयं सम्राट् के हाथ से ही द्वार को मुक्त पाकर

उनके हर्ष की सीमा न रही। तुरंत ही उस सुनहरे अवसर का उपयोग करने का निश्चय किया।

तीन पादरियों का मिशन सीकरी जाने के लिये तैयार किया गया। प्रधान पादरी नेपल्स के राजघराने का था। बाल-काल से ही उसकी चित्त-वृत्ति अत्यंत धार्मिक थी। उसे सुख और विलास के जीवन से घृणा थी। अपने पिता की इच्छा के विरुद्ध वह धर्म-प्रचारक पादरियों में भरती हो गया, और गोआ चला आया था। दूसरा पादरी भी योग्य और साहसी था। वह धार्मिक वाद-विवाद में बड़ी तीव्र भाषा में मुसलमानी धर्म पर आक्रमण करता था। तीसरा एक ईरानी था, जो ईसाई हो गया था। उस पर दुभाषिए के काम का भी उत्तरदायित्व था।

साढ़े तीन महीने में, जल और थल की यात्रा करने के बाद, वह पादरियों का दल सीकरी पहुँचा। सम्राट् ने बड़ा आदर-सत्कार किया उनका, तथा उनके धर्म के प्रति अत्यंत श्रद्धा और भक्ति प्रदर्शित की। सम्राट् ने बहुत-सा धन उन्हें भेट में देना चाहा, पर उन्होंने अस्वीकार करते हुए कहा—"हम केवल सत्य धर्म के प्रचार के लिये ही आए हैं।" अकबर उनकी इस लोभ-हीनता से बड़ा प्रभावित हुआ।

पादरियों के आगमन से उपासना-गृह की विचार-धारा में उल्लेख-योग्य परिवर्तन दिखाई दिया। उन्होंने मुसलमानी धर्म की कड़ी आलोचना की। जो उस धर्म के अनन्य भक्तों

को असह्य हो उठी। सम्राट् की उन ईसाई पादरियों पर विशेष कृपा-दृष्टि देखकर कुछ लोग धर्म-विप्लव के लिये भी तैयार हो गए थे।

एक दिन एक मुसलमान धर्म-वक्ता ने कहा—"सम्राट्! हमारे मत-भेद का हल तर्क द्वारा असंभव है।"

"फिर क्या उपाय किया जाय?"

"दोनो धर्मों की अग्नि-परीक्षा ली जाय।"

"कैसे?" सम्राट् ने पूछा।

"बहुत बड़ी अग्नि की ज्वाला प्रज्वलित की जाय। उसमें अपनी धर्म-पुस्तक लेकर मैं कूदूँगा, और अपनी धर्म-पुस्तक लेकर इन पादरियों में से एक। जिसका सत्य धर्म होगा, उसे आँच न लगेगी।"

अकबर के मन में यह बात गड़ गई। उसने पादरियों से पूछा—"तुम्हें स्वीकार है यह बात?"

"नहीं महाराज, कदापि नहीं।"

"क्यों?"

"भगवान् ने मनुष्य को विवेक दिया है कि वह सत्य से झूठ को अलग करे। ऐसे भगवान् अपनी श्रेष्ठता प्रकट नहीं करता। हमें उसकी प्रकृति के गुणों को अन्यथा करने के लिये श्रद्धा नहीं। यदि उस आग में हम दोनो ही जलकर भस्म हो गए, तो फिर क्या होगा महाराज!"

महाराज ने विचार किया, हाँ यह भी तो असंभव नहीं है।

अग्नि-परीक्षा स्थगित कर दी गई।

कहते हैं, ईसाइयों के आगमन से अकबर की अपने धर्म में मति शिथिल पड़ गई। वह संसार के सब धर्मों का समन्वय कर एक मानव-धर्म की रचना को असंभव पाकर व्याकुल हो उठा !

फ़ैज़ी के पिता शेख़ मुबारक अनेक भाषाओं के विद्वान् तथा अनेक धर्मों के तत्त्वज्ञाता थे। उन्होंने सबसे पहले अकबर को यह विचार दिया कि सम्राट् धार्मिक और राजनीतिक, दोनो सूत्र अपने हाथों में ले लें। बिना ऐसा किए मानव-धर्म का सूत्रपात नहीं हो सकता। धार्मिक मत-भेद में जहाँ एकता की जायगी—सम्राट् ही उसमें अपना अंतिम निर्णय देंगे।

सम्राट् को यह बात पसंद आ गई।

सात

छ महीने बाद, एक दिन जब दसवंत राज-दरबार में गया हुआ था, रागिनी महाराजिन के साथ बैठक में बातचीत कर रही थी।

महाराजिन ने कहा—"तुम उदास हो आजकल।"

"हाँ, महाराजिन! मैं उस उदासी को छिपाने का कोई प्रयत्न नहीं कर रही हूँ। फिर तुमसे?"

"कदाचित् तुम्हारा स्वास्थ्य ठीक नहीं है, इसी कारण?"

"हो सकता है।"

"आहार पहले था ही कितना! अब वह भी घट गया है बहुत तुम्हारा।"

"रुचि ही नहीं है बिलकुल। जो कुछ तुम्हारे प्रबल अनुरोध से खाती भी हूँ, वह पचता नहीं, उलटी हो जाती है। सिर में प्राय: हर समय पीड़ा रहती है।"

"उनसे छिपा देने से काम न चलेगा।"

"वह औषध लाए थे मेरे लिये।"

"एक बात पूछना चाहती हूँ बहुत दिनों से।"

"कौन-सी ?"

"बताओगी न ? बुरा तो न मानोगी ?"

"न-जाने क्या पूछना चाहती हो तुम ! तुमसे तो छिपाकर कुछ भी नहीं रक्खा है।"

महाराजिन सोच-विचार में पड़ गई थी।

"चुप हो तुम ?" रागिनी ने कहा।

"तुम सगर्भा हो ?"

ज्येष्ठ के ताप से संतप्त जैसे सघन वृक्ष की छाया की शरण हो जाता है, ऐसे ही रागिनी ने महाराजिन के चरणों में अपने दोनो हाथ रख दिए। उसने करुणा-विकंपित वाणी से पुकारा—"मा !"

"कुछ भी चिंता न करो। मैं सेविका हूँ तुम्हारी। भगवान् चाहेंगे, तो तुम्हें बिलकुल कष्ट न होगा। तुम्हें हर समय प्रसन्न रहकर अच्छे-अच्छे विचारों को स्थान देना चाहिए।"

महाराजिन ने ललककर रागिनी को छाती से लगा लिया।

रागिनी चुपचाप आँसू बहाने लगी थी।

"तुम्हें किसी वस्तु की कमी नहीं है। मैं सब कुछ जानती हूँ, किसी बात की कसर न रहेगी।" महाराजिन ने अपने अंचल में उसके आँसू ले लिए—"धीरज रक्खो, शांत होओ। भगवान् ने कृपा की है। इस सूने घर को देख-देखकर मैं बहुत घबरा उठी थी। ईश्वर चाहेंगे, तो शीघ्र ही बालक की क्रीड़ाओं से यह गृह कूजित हो उठेगा।"

"बड़ा भरोसा हुआ मा।"

"पाँच संतानें हुईं मेरी। बड़ी चाह से मैंने उनका पालन किया। सब धोका देकर चली गईं मुझे। बालक-मात्र को देखकर मेरा हृदय आनंद से भर जाता है। मैं बड़ी-बड़ी देर तक हाट और पथ पर उन्हें देखती ही रह जाती हूँ। तुमने इतने आदर के साथ यहाँ रक्खा है मुझे। केवल एक ही दुख था मुझे। मैं नित्य ही भगवान् से प्रार्थना करती थी कि तूने मुझे संतान न दी, इस घर में तो दे।"

रागिनी क्षीण हँसी हँसी—"बड़ी ममता का भरा हुआ हृदय है तुम्हारा मा!"

"मैं समझती हूँ, नारी के हृदय के स्थायी भाव का नाम है मातृत्व। वही नारी-जाति का प्रकृत रूप है। वही उसकी महिमा और प्रतिष्ठा है। मैं सब कुछ स्वयं ही करूँगी उस बालक का। यद्यपि मैं बूढ़ी हो चली हूँ, तथापि मेरी छाती के भीतर ममता का स्रोत सूखा नहीं है। बालक का स्पर्श पाकर मेरे स्तनों में दूध प्रवाहित होने लगता है।"

रागिनी बड़ी भक्ति के साथ महाराजिन की ओर देख रही थी।

"हाँ, सच ही कह रही हूँ। तुम्हें विश्वास नहीं होता क्या?"

"क्यों नहीं ?"

'एक बात और कहती हूँ, तुम्हारे पुत्र ही होगा।"

रागिनी ने लज्जा से नेत्र नीचे कर पूछा—"यह कैसे जानती हो ?"

"जानती हूँ कैसे नहीं। जब तुम चलने के लिये पैर उठाती हो, तो मैंने बार-बार उसको लक्ष्य किया है।"

"उससे क्या होता है ?"

"उसी से जान लिया जाता है।"

रागिनी अधरों को ढककर हँसने लगी।

ज्यों-ज्यों रागिनी के प्रसव के दिन निकट आने लगे, त्यों त्यों दसवंत अपने को बड़े दृढ़ और जटिल चिंता के जाल में जकड़ता हुआ देखने लगा। उसकी सारी कला, समस्त दर्शन जड़ता और विकलता में बदल गए।

वह विचारता, जब बालक इस घर में रुदन करेगा, तो हम उसे रोक न सकेंगे। उसकी क्रंदन-ध्वनि सड़क पर के पथिक को आकृष्ट न कर सके, पड़ोसी अवश्य ही अवगत हो जायँगे। वे कहना आरंभ करेंगे—"बड़ा पाखंडी है यह दसवंत। यह तो कहता था, मैं अविवाहित हूँ!"

उसने सोचा, राजसभा में भी इस समाचार को पहुँचते देर न लगेगी। सभासद् क्या कहेंगे, और राजा के मन में जो मेरी प्रतिष्ठा है, वह भी धूल में मिल जायगी। चुगली खाने-वालों की यहाँ कमी नहीं। यदि सम्राट् ने कुछ अन्यथा

विचारकर इस संबंध में अधिक छान-बीन की, तो—? दसवंत के मानस में अंधकार बड़े वेग से फैलने लगा।

उसी समय धीर, मंद गति से रागिनी ने उस कक्ष में प्रवेश किया। दसवंत को उदासी में खोया हुआ देखकर वह खड़ी ही रही कुछ देर तक।

दसवंत ने कहा—"बैठ जाओ रागिनी! कैसी है सिर की पीड़ा?"

"ठीक है।" रागिनी ने सत्य को छिपाकर कहा।

"एक बात समझ में आती है रागिनी!"

रागिनी बैठ गई, बोली—"क्या बात?"

"मेरे विचार में आता है, यदि तुम मथुरा या वृंदावन चली जाओ, तो कैसा हो, महाराजिन को साथ लेकर।"

"तुम न चलोगे साथ?" रागिनी ने अविश्वास के साथ कहा।

'जीविका का क्या होगा?"

"वहाँ भी तो तुमने अनेक मंदिरों में चित्र बनाए थे। तुम कहते थे, अनेक महंतों से मेरा अच्छा परिचय है।"

दसवंत ने महाराजिन को बुलाकर उससे भी अपना प्रस्ताव कहने के बाद भरोसा दिया—"मैं वहाँ आकर सब प्रबंध ठीक कर जाऊँगा, और बीच-बीच में भी आता जाता रहूँगा।"

महाराजिन ने देखा, रागिनी किसी प्रकार सम्मत नहीं

होती थी। वह बोली—"यहाँ भी क्या हानि है। आप तिल-भर भी चिंता न करें, मैं कुछ भी कष्ट न होने दूँगी।"

दसवंत विचारने लगा—"कला के मार्ग में गृहस्थी को झंझट समझकर मैंने विवाह नहीं किया। देखता हूँ, मैं फिर उसी कीचड़ में फँस गया। अब मुक्तगति न रहेगी मेरे।" पश्चात्ताप करने लगा वह बैठे-बैठे। उसने मन-ही-मन कहा—"क्या होगा अब? इस बंधन से कैसे छुटकारा हो। रागिनी को अन्यत्र भेजने का विचार अत्याचार होगा। यह घोर स्वार्थ नैतिक पतन कर देगा।"

रागिनी और महाराजिन भीतर चली गई थीं। दसवंत ने चुपचाप अपना एक संदूक़ खोला। एक रूमाल में बाँधकर उसने कुछ अशर्फ़ियाँ छिपा रक्खी थीं। उनकी गिनती की उसने। फिर कहा मन में—"कम हैं ये। इतनी ही और होनी चाहिए। मिल ही जायँगी तब तक।"

गोआ के पादरियों ने बाइबिल के साथ कुछ चित्र भी उपहार में दिए थे सम्राट् को। उनमें एक चित्र शिशु ईसा और उसकी माता का था। उपासना-गृह की दीवारों में समस्त जातियों के धार्मिक चित्र बनाने की आज्ञा दी सम्राट् ने। वह शिशु और माता का चित्र दसवंत को दे दिया गया था कि वह धर्म-सभा की भीति पर अंकित करे उसे।

दसवंत उस चित्र का अध्ययन करने को ले आया था घर पर। बैठे-बैठे देखने लगा नारी का वह मातृरूप! वह त्याग

और बलिदान की साकारता ! नारी की एकांगता—केवल पत्नीत्व ही स्वीकृत किया था मैंने अपनी कला में । तुच्छ इंद्रियपरता ! उसके मातृत्व में बदल जाना स्वाभाविकता ही है । किंतु—?

अकबर ने देखा, उसकी धर्म-सभा में जैन-धर्म का प्रतिनिधित्व नहीं । उसने जैनों के धर्म की महत्ता सुनी, और गुजरात के शासक को आज्ञा दी कि वह सुप्रसिद्ध जैन महात्मा हीरविजय सूरि को सादर सम्राट् का निमंत्रण दे।

हीरविजय सूरि फ़तहपुर सीकरी आए। उनका वहाँ बड़ा आदर-सत्कार किया गया। सम्राट् ने उनके निकट जैन-धर्म का अध्ययन किया। जैन-धर्म की अहिंसा की गहरी छाप पड़ी अकबर के हृदय पर ।

भारतवर्ष के प्रमुख धर्मों के तत्त्वों से परिचित होने पर सम्राट् ने अपने को अब मानव-धर्म के सूत्रपात के लिये तैयार पाया । उसने हिंदुओं की साकारता और मुसलमानी धर्म की निराकारता को पारसीक सूर्योपासना से संबद्ध कर देना चाहा । उसमें जैनों की अहिंसा और ईसाइयों के त्याग का भी समावेश होना आवश्यक है । ये विचार धीरे-धीरे जाकर प्रस्फुटित हुए अकबर के उस मानव-धर्म में, जिसका नाम पीछे जाकर रक्खा गया दैवी धर्म । अकबर उस धर्म का स्रष्टा-प्रवर्तक हुआ ।

रात्रि का आरंभ था। आगरा द्वार के निकट से दो मनुष्य

आ रहे थे राजमहल की ओर। एक मनुष्य परदेसी जान पड़ता था, दूसरा सीकरी का ही निवासी था, उसने एक चादर ओढ़ रक्खी थी।

सीक़री-निवासी ने कहा—"दिल्ली से आ रहे हो तुम। सराय तो उधर ही छोड़ आए। रास्ता भूल गए। चलो मैं बता दूँगा।"

"फ़क़ीर हो तुम? यहाँ किस मतलब से आए हो?"

"सम्राट् अकबर का नाम सुना है। वह साधु-संतों का बड़ा भक्त है।"

"क्या भक्त है अकबर, कुछ नहीं, वह विधर्मी हो गया है। आज हिंदू-धर्म को मानता है, कल ईसाई होने को तैयार हो जाता है। कभी पारसियों की भाँति सूर्य-पूजा करता है, तो कभी जैनों की भाँति रहने लगता है। कहाँ रह गया अब अकबर मुसलमान?"

"सभी धर्मों को मानने लगा है, तो यह तो और भी अच्छी बात है। इससे तो वह सर्वधर्मी हो गया, विधर्मी नहीं। संसार का कोई धर्म मनुष्य को घृणा नहीं सिखाता।"

"क्या तुम मुसलमान नहीं हो?"

"हूँ कैसे नहीं? क्या मुसलमानों का धर्म मनुष्य को घृणा सिखाता है?"

"पर यह जो भगवान् के चार मुख बताते हैं, यह बात कहाँ तक सच है?"

"ये पौराणिक कल्पनाएँ हैं। संसार के सभी धर्मों में इनका समावेश है।"

"हम पश्चिम की ओर मुँह कर भगवान् की उपासना करते हैं, वे पूर्व की ओर क्यों उसे पूजते हैं?"

"यह भी बड़ी छोटी-सी बात है। हिमालय पहाड़ को चीन-निवासी दक्षिण में बताते हैं, ब्रम्हावाले पश्चिम में, अरब लोग पूर्व में और भारतवासी उत्तर में है, कहते हैं। कौन सही नहीं है?"

"तुम क्या सारी दुनिया देख चुके हो?"

"हाँ, घूमता ही रहता हूँ।"

"हम लोग आ गए अब। तुम इस मार्ग से सीधे आगे चले जाओ। कुछ ही दूर पर तुम्हें एक तालाब मिलेगा, उसके आगे दिल्ली-द्वार से आती हुई सड़क। कुछ दूर चलने पर हाथीपोल और संगीनबुर्ज मिलेंगे। वही है सराय।"

साधु उस सीकरी-निवासी को आशीर्वाद देता हुआ चला गया। दूसरा मनुष्य सड़क के निकट एक सघन पीपल के पेड़ से आच्छादित चबूतरे पर बैठ गया। उसके एक ओर राजभवन की चहल-पहल निशा की शांति को निनादित कर रही थी।

बड़बड़ाता हुआ एक भृत्य राजभवन की ओर से आ रहा था। छाया से वह मनुष्य उठा, और उस भृत्य के साथ हो लिया। पूछने लगा—"क्या बात हो गई?"

"क्या बताऊँ ? एक-से-एक सिड़ी जमा कर रक्खे हैं सम्राट् ने अपनी सभा में। नई-नई भाषा बोलते हैं, और नई-नई बातें सुझाते हैं सम्राट् को। इनकी प्रतिपालना ही यदि उसे स्वीकार थी, तो इन्हें बड़े-बड़े पिंजरों में रख सड़क के किनारों पर रख देता। वहीं इन्हें बढ़िया-बढ़िया खाना भेज दिया जाता राजमहल से।"

"क्यों ? क्यों ?"

"इन्होंने अपने धर्म में स्थिर-मति सम्राट् के मन में संशय भर दिया है। उसे बाप-दादों के धर्म के प्रति विद्रोही बना दिया। उसे विधर्मी बना दिया—उसे मूर्तिपूजक बना दिया !"

"मुसलमान होने से पहले सम्राट् के पूर्वज मूर्तिपूजक ही तो थे। राजभवन में है तुम्हारी नौकरी ?"

"रही कहाँ ? निकाल दिया गया हूँ अभी।"

"क्यों ? क्या अपराध किया तुमने ?"

"अपराध ? अपराध कुछ भी नहीं किया।"

"क्या काम करते हो ?"

"राजमहल में वह जो चूल्हा खोदा गया है न हाल ही में। दाल पकाने के काम का, न रोटी। उसे आठों पहर गरम रखने की आज्ञा है।"

"तब क्या तुमने उसे बुझा दिया ?" रोष में भरकर वह मनुष्य बोल उठा—"चाहिए तो था, तुम्हारा सिर उड़ा दिया जाता !"

"क्यों-क्यों ?" घबराकर उस चाकर ने उस मनुष्य का हाथ पकड़ लिया—"तुम क्यों क्रोध करने लगे ? बुझने नहीं दी मैंने आग। कुछ कोयले कम पड़ गए थे।"

"कुछ भी हो। तुम्हारी तो वह नौकरी थी न ?"

"एक अंध-विश्वास ही तो है न ?"

"अरे, विश्वास सभी अंधे हैं। मानने ही से फलप्रद होते हैं।"

"कौन हो तुम ? उन्हीं अग्निपूजकों में से जान पड़ते हो।"

"मैं कोई भी हूँ। तू चला जा, और आनंद मना कि सकुशल ही चला आया।" उसका साथ छोड़कर वह मनुष्य फिर अपने पथ पर लौट गया। चादर अच्छी तरह शरीर पर लपेटकर वह फिर राजमहल की ओर चला।

नौबत-गृह के समीप जैसे ही वह आया, तो अचानक उसने शिशु का क्रंदन सुना। पथ निर्जन और शून्य था। कौतूहल दूर करने के लिये वह उस ओर बढ़ा। देखा, रास्ते के एक ओर सुकोमल ऊनी चादर में लिपटा हुआ एक नव-जात शिशु रो रहा है। उसने उसे उठा लिया। उसके साथ रक्खी हुई एक थैली भी थी। उसे भी उठाया उसने। भारी थी, हाथ से टटोला। कहने लगा मन में—"इसमें तो अशर्फियाँ भरी हैं।"

कुछ देर विचारकर वह उस शिशु और थैली को लेकर राजभवन की ओर बढ़ गया।

प्रवेश-द्वार पर प्रहरी ने उसका पथ रोक लिया। चादर से मुख ढके हुए ही उस मनुष्य ने उसे सम्राट् की अंगूठी दिखाई। प्रहरी ने मार्ग छोड़ दिया।

वह मनुष्य वहाँ से सीधा जोधबाई के भवन की ओर चला। पहरे की दासी ने कहा—"कौन ?"

उसने अपना आवरण दूर कर दासी को दे दिया।

दासी घबराकर पीछे हटी। उसने कहा—"सम्राट् चिरजीवी हों।"

वह सम्राट् अकबर ही थे। छाती से लगा हुआ वह शिशु फिर रोने लगा था। उसे पुचकारते हुए वह महारानी जोधबाई के पास पहुँचे।

"यह किसका बालक है महाराज ?"

"नहीं मालूम, सड़क पर पड़ा मिला। उठा लाया हूँ।"

"सड़क पर पड़ा मिला ?"

"हाँ। लो इसे, इसका पालन करो। कितना सुंदर है !"

"इसका पालन करो ? न-जाने किसका पाप है यह ?"

"ऐसा न कहो, भगवान् असंतुष्ट हो जायँगे। इसमें किसी के पाप का क्या लवलेश ?"

"आप भी क्या उठा लाए महाराज ! हत्या लगेगी।"

"हत्या कैसे लग जायगी ? अभी इसके पालन-पोषण का प्रबंध करता हूँ। मैं तो इसे भगवान् का दिया हुआ समझ

रहा हूँ, नहीं तो यह मेरी दृष्टि में क्यों पड़ता ! कुछ देर तो सँभालो इसे।"

"नहीं, मैं नहीं स्पर्श करूँगी इसका।"

"नहीं-नहीं, ऐसा मत कहो। तुम देवताओं को पूजती हो। क्या यह उन्हीं के समान पवित्र नहीं ? इसके माता-पिता ने इसके साथ कठोरता की, तो क्या सारा संसार इसका शत्रु हो जायगा ? जिएगा यह बालक। गला सूख गया इसका, कुछ बूँद दूध की डाल दो इसके मुँह में। भगवान् आशीर्वाद देंगे।"

"मैं दासी को बुला लाती हूँ, उसके है दूध।"

महारानी दासी को बुला लाईं। दासी ने उसे गोद में लिया। दूध पीने लगा वह शिशु, चुप हो गया।

अकबर ने वह अशर्फियों की थैली भी दासी के निकट रक्खी—'लो, यह थैली भी इसी के साथ मिली। शायद इसकी पालना के लिये पारिश्रमिक। लो दासी, यह तुम्हीं रक्खो।"

"किसी अच्छे-घर का जान पड़ता है, लड़का है। कैसे पत्थर की बनी हुई माता हुई वह ?" महारानी ने कहा।

दासी बोली—"यह बालक भी मेरा ही हुआ महाराज !"

"नहीं दासी ! भगवान् ने यह मुझे दिया है। अभी जानता नहीं, किसलिये। तुम क्या करोगी ?"

"आप ही क्या करेंगे ?" महारानी ने पूछा।

"यह मेरी प्रजा है महारानी ! इसके माता-पिता के इसके

संबंध त्याग देने के बाद इसके प्रतिपालन का उत्तरदाता मैं हूँ।"

"दासी को दे दीजिए पालना के लिये, वह माँग तो रही है। बस, आप हो गए मुक्त-कर्तव्य।"

"नहीं रानी! तुम नहीं समझ रही हो। भगवान बड़ी अद्भुत लीला दिखाता है। सब कोई नहीं जान सकते। मुझे कोई अत्यंत गंभीर अर्थ छिपा दिखाई दे रहा है। फिर बताऊँगा तुम्हें।"

दासी बोली—"महाराज, यह लड़का आज ही पैदा हुआ है, और अच्छी तरह इसे नहलाया भी नहीं गया। सबसे पहले इसके स्नान का प्रबंध होना चाहिए। मैं इसे अपने घर ले जाती हूँ। वहाँ अच्छा सुभीता रहेगा।"

"नहीं, दासी! यहीं। जब तक कहीं और प्रबंध नहीं हो जाता, तब तक यह मेरी चित्रशाला में रहेगा। तुम वहीं इसकी रक्षा करोगी।"

चित्रशाला में ही वह बालक रक्खा गया।

उस दिन रात-भर अकबर जागता ही रहा। कभी छत पर टहलता, कभी बैठकर भगवान् की प्रार्थना करता। अंतर्ज्योति का आवाहन करता हुआ कहता—"हे परमेश्वर! यह बालक तुमने ही मुझे दिया है। क्यों दिया? इस रहस्य को प्रकट करो मुझ पर।"

सूर्योदय होने से थोड़ी देर पहले आधे स्वप्न और आधी

जागृति में अकबर ने कुछ देखा। वह हर्ष से उछल पड़ा, चिल्ला उठा—"अभिन्न भारत! अक्षत भारत! मैं उसकी सारी मानवता को गूँथ लूँगा, मुझे एक सूत्र मिल गया। मैं उसकी जातियों का कलह मिटा दूँगा, मुझे एकता मिल गई! एक वाणी! एक भाषा—मनुष्य की स्वाभाविक भाषा!"

उसी समय उसने कुछ चुने हुए सभासदों को बुला भेजा। उसके शयन-प्रकोष्ठ में अंतरंग-सभा बैठी।

अकबर बोला—"मनुष्य की एक स्वाभाविक भाषा है। हमने अपनी कृत्रिमता से उसका रूप बिगाड़ दिया है।"

फ़ैज़ी बोला—"सत्य है दीनानाथ! रुदन को लीजिए। यह उस स्वाभाविक भाषा का एक नमूना है। संसार-भर के नर-नारी शोक और दुःख के भावों को व्यक्त करने के लिये उस एक ही ध्वनि का सहारा लेते हैं।"

"पर वह विशुद्ध नहीं रही। जातियों ने भिन्न-भिन्न शब्द मिलाकर उसकी एकता नष्ट कर दी, और वह व्यापकता से हीन हो गई। उसकी विशुद्धता का उद्भव फिर कैसे हो?"

अबुलफ़ज़ल ने कहा—"यह विचार और अनुसंधान की बात है महाराज!"

अकबर ने तानसेन की ओर संकेत कर पूछा—"आप बता सकते हैं आचार्य कुछ? क्या मत है आपका इस संबंध में? नादविद्या भी तो अभिव्यक्ति ही है।"

"हो सकता है दयानिधान ! नाद के भीतर भी कुछ दैवी चमत्कार है। कभी-कभी सैकड़ों शब्द भी जिस भाव को प्रकट नहीं कर सकते, नाद के पाँच-सात स्वर ही सफल हो जाते हैं। मनुष्यों की बात जाने दीजिए, प्राणी-मात्र संगीत की भाषा समझता है। जड़ जगत् भी उसके प्रभाव से मुक्त नहीं है।" तानसेन ने कहा।

"फिर क्या मनुष्य की स्वाभाविक भाषा का निर्माण संगीत की बुनियाद पर होगा?" अकबर ने प्रश्न किया।

"नहीं महाराज ! ऐसा संभव नहीं।" तानसेन ने कहा।

"फिर?"

शेख़ मुबारक बोले—"बिना अंतर्ज्योति के सन्निधान के नहीं ज्ञात हो सकती यह बात।"

"ठीक कहा आपने। मैंने प्राप्त किया है उसे। विचार-पूर्वक सुनिए। मनुष्य की स्वाभाविक भाषा, यही एक सूत्र है, जिसमें भारतवर्ष ही क्या, सारी वसुंधरा एक कुटुंब में गूँथ दी जा सकती है। मनुष्य मनुष्य के निकट हो जायगा। देश और काल की बाधाएँ उसके सामने तुच्छ होकर रह जायँगी।"

सारी सभा सम्राट् की बात सुनने के लिये स्तब्ध हो गई थी।

कुछ यति देकर अकबर ने फिर आरंभ किया—"भगवान् की दया हुई है मुझ पर। उन्होंने अत्यंत कृपा कर मुझे प्रेरणा

दी है इसके लिये। मेरा सौभाग्य है, आप-जैसे सुयोग्य मंत्रणाकार मिले हैं मुझे।"

"आप युगावतार हैं!" फ़ैज़ी बोला—"यह चाटुकारी न समझी जाय महाराज!"

अकबर ने फ़ैज़ी की ओर देखकर मृदु हास किया—"समस्त प्रजा को एक धर्म में दीक्षित करने पहले चाहिए उसकी एक भाषा। वही एक सूत्र है मानव की स्वाभाविक भाषा का। उसका उद्भव इस प्रकार होगा। कल रात मुझे एक बालक मिला है सड़क पर। वह किसका है? क्यों पथ में फेंक दिया गया? इस प्रश्न पर हमें बहस करनी नहीं है।"

बीरबल जेब से पत्रा निकालकर उलटने लगे।

"आप क्या देखने लगे पंडितजी?" सम्राट् ने पूछा।

"देख रहा हूँ, मूल नक्षत्र तो नहीं थे कल। वह बालक हिंदू है या मुसलमान?" बीरबल ने कहा।

"पत्रा बंद कर दीजिए, यह प्रकरण के बाहर की बात है। जन्म का बालक हिंदू या मुसलमान, पारसी या ईसाई—इनमें से कुछ नहीं होता। वह निष्पाप, पवित्रता की प्रतिमा, सच्ची मानवता का अंश होता है। उसकी पवित्रता को हमीं कलुषित कर देते हैं। हम उसके हृदय में जातियों के द्वेष का बीज बोने लगते हैं। वह बालक संसारी मनुष्यों के इस विकार-संसर्ग से दूर रक्खा जायगा। मनुष्य की भाषा, उसकी दृष्टि

और उसके स्पर्श की छाया भी न पड़ने दी जायगी उस पर। अलग एक भवन बना दिया जायगा उसके लिये।"

"उसके पालन-पोषण का क्या होगा?" शेख़ मुबारक ने नम्रता-पूर्वक पूछा।

"एक धाई नियुक्त कर दी गई है। वह उसके भोजन, शयन, सफ़ाई आदि की व्यवस्था करेगी। उसके अतिरिक्त और कोई न जायगा उस बालक के पास। वह धाई कभी कोई शब्द उच्चारित न करेगी उसके सामने। बुरक़ा पहने रहेगी, अपना मुख भी न दिखावेगी उसे। जब वह कुछ बड़ा हो जायगा, तो फिर दासी भी उसकी समीपता से हटा ली जायगी। बालक के लिये तमाम आवश्यक वस्तुएँ वहाँ रख दी जायँगी।"

"उसके साथ और नवजात शिशु भी रक्खे जायँगे?" फ़ैज़ी ने पूछा।

"हाँ, पंद्रह-बीस शिशु और रक्खे जायँगे। प्रत्येक भिन्न जाति और धर्म का प्रतिनिधि एक-एक शिशु। उस गृह का नाम शिशु-गृह होगा। आप लोगों के क्या विचार हैं? ऐसे वातावरण में क्या वे शिशु आपसी संबंध से एक भाषा का विकास न कर लेंगे? क्या वह भाषा स्वाभाविक भाषा, मानवी भाषा न होगी?"

"प्रयोग कर किसी ने देखा तो है नहीं। कल्पना कहती है, होगी महाराज!" वयोवृद्ध शेख़ मुबारक ने कहा।

"होगी। मेरा विश्वास है, होगी।" सम्राट् ने कहा।

टोडरमल कुछ कहना चाहते थे, पर चुप हो गए।

तानसेन की ओर देखकर सम्राट् ने पूछा—"आपके क्या विचार हैं?"

"महाराज! भगवान् की माया बड़ी विचित्र है। असंभव कुछ भी नहीं है।" तानसेन ने उत्तर दिया।

बुद्धिवाद और पराभौतिका का अद्भुत सम्मिश्रण था, सम्राट् बोला—"भगवान् चाहेंगे, तो होगी पूर्ण हमारी इच्छा। परंतु प्रयोग में बड़ी सावधानी की आवश्यकता है। अपवाद मृत्यु के संकट पर भी न करेगा प्रवेश उस शिशु-गृह के भीतर। बड़े सतर्क और तत्पर मनुष्य की आवश्यकता है। कौन तैयार होता है?"

टोडरमल बोले—"मुझे बंगाल की टकसाल का उत्तरदायित्व सौंपा गया है। मुझे शीघ्र ही गौड़ के लिये प्रस्थान करना है।"

सम्राट् ने फ़ैज़ी की ओर देखा—"क्यों कवि!"

"हाँ महाराज!"

"वहीं बैठे-बैठे कविता लिखते रहना।"

"जैसी आज्ञा हो।"

"वहाँ कुछ काम थोड़े करना पड़ेगा। केवल निरीक्षण।"

सम्राट् ने पुकारा—"मिर्ज़ा ख़ान!"

"महाराज!" बैरम का पुत्र बोला।

"तुम्हें शीघ्र-से-शीघ्र शिशु-गृह के निर्माण का भार अपने ऊपर लेना होगा। चार कमरे बनेंगे। उनमें एक-एक अतिरिक्त द्वार, बाहर छत पर से ऊपर-नीचे खिसकाकर खोले और बंद किये जायँगे। चार द्वार बाहर की ओर आँगनों में खुलेंगे उन कमरों में से। आँगन की दीवार के बाहर एक और ऊँची दीवार बना दी जायगी। ऊपर की मंजिल में निरीक्षक का निवास होगा। वहाँ से चारों कमरों की देख-भाल के लिये चार झरोखे जालीदार बना दिए जायँगे।"

मिर्ज़ा ख़ान ने कहा—"जैसी आज्ञा हो।"

"पहले इसका नक़्शा बनवाकर मुझे दिखाओ। हाँ, धाई का निवास भी वहीं बनेगा। बहुत शीघ्र। एक सप्ताह में तैयार हो जाना चाहिए। दिन-रात काम जारी रक्खो। राजकोष से चाहे जितना धन लो। इस काम के लिये देर न होनी चाहिए बिलकुल।"

"ऐसा ही होगा महाराज!"

कुछ सोचकर अकबर फिर बोला—"कहाँ स्थान उपयुक्त होगा?"

किसी ने कहीं बताया, किसी ने कहीं। अंत में नगर के बाहर नदी में बाँध बाँधकर जिस तालाब की रचना की गई थी, सीकरी-वासियों का जल-कष्ट दूर करने के लिये, उसके निकट शिशु-गृह का निर्माण निश्चित हुआ।

सभा भंग हुई।

दसवंत ने धीरे-धीरे बाहर से अपने घर का द्वार खट-खटाया। महाराजिन ने आकर उसे खोल दिया।

दसवंत ने पूछा—"क्यों, क्या हाल है ?"

"होश में तो आ गई हैं। एक बार कहने लगी थीं कि मेरा बच्चा कहाँ है ? बहुत दुर्बल हो गई हैं। इस समय, जान पड़ता है, गहरी नींद में हैं।"

दोनो दबे पैर रागिनी के निकट आए। दसवंत ने कहा धीरे-धीरे—"हाँ, नींद ही आ रही है। शब्द नहीं करना चाहिए हमें। नींद से लाभ होगा। कुछ खाने के लिये तैयार रखना आवश्यक है, नींद टूटने पर इनके। दूध है ?"

"हाँ। हरीरा बना लेती हूँ। क्या देर लगेगी। मसाले सब कूट-छान रक्खे हैं।" कहकर महाराजिन रसोईघर में चली गई।

दसवंत रागिनी के निकट बैठ गया एक चौकी पर। मन में विचारने लगा, बड़ी उदारमना है यह महाराजिन। बड़ी सेवा की है इसने हमारी। यदि यह कुछ छूत-छात का विचार करती, तो बड़ी मुश्किल में पड़ गया होता मैं।

हठात् उसकी विचार-धारा बदल गई। रागिनी के प्रसव-दुर्बल पीले मुख पर वह टकटकी बाँधकर देख रहा था। बोला मन में—"विश्वासघात तो नहीं किया मैंने ?" उसने अंतरात्मा की ध्वनि को दबाकर कहा—"नहीं !"

बड़ी गहरी नींद में सो रही थी वह। उसका मुख देखकर

फिर दसवंत की करुणा जाग पड़ी। फिर विचारने लगा वह—"यह जागकर फिर कहेगी, मेरा बालक कहाँ है? क्या उत्तर दूँगा इसे?" वह अधीर हो गया; उसने धीरे से पुकारा—"महाराजिन!"

महाराजिन ने आकर कहा—"क्या बात है?"

"तुम इन्हीं के समीप बैठो, मैं फिर बाहर जाता हूँ।"

"कहाँ? किसलिये?"

दसवंत को उत्तर देने का अवसर नहीं था। वह बिजली की गति से चला गया बाहर। महाराजिन द्वार बंद कर रागिनी के समीप बैठ गई।

मार्ग में चित्रकार सोचने लगा—"बालक या रहस्य, इन दोनो में से केवल एक ही का पालन हम कर सकते हैं। बालक मेरा रहस्य खोल देगा! पर उसे इस प्रकार उसकी माता से बिलग कर देने का ही मुझे क्या अधिकार? मैं और भी ~~मति तीव्र~~ कर दूँगा। कदाचित् अभी देर नहीं हुई है।"

दसवंत दौड़ता हुआ टकसाल की दीवार के पास आया—"नहीं, कोई उठा ले गया क्या?" उसने फिर अच्छी तरह स्मरण किया—"यही जगह तो थी। कोई पशु तो नहीं ले गया। नहीं, ऐसा होने पर वस्त्र तो यहीं रहते। अब तो चन्द्रमा के उदय होने से स्पष्ट ही दिखाई दे रहा है।" वह चारों ओर थोड़ी-थोड़ी दूर तक देख आया—"कहीं कुछ

दसवंत लौट गया। महाराजिन ने द्वार खोलते हुए पूछा—"क्यों कहाँ गए थे?"

"कहीं नहीं, ऐसे ही।" दसवंत ने बात छिपाकर कहा।

"बालक को लेने गए थे? मैंने तभी कहा था, रहने दो उसे यहीं। संतान की ममता बड़ी प्रबल वस्तु है। हम किसी तरह न समझा सकेंगे इन्हें।"

"और कोई दूसरा मार्ग ही न था महाराजिन! क्या करता। तुम चुप ही रहना, न बोलना कुछ। मैं स्वयं ही समझा लूँगा।"

महाराजिन फिर रसोई-घर में चली गई।

दसवंत का हृदय रागिनी के पास बैठे-बैठे तीव्र स्पंदन में था। बीच-बीच में जैसे अंतस्ताड़ना मिल रही थी उसे—"दसवंत! तूने यह मनुष्योचित कार्य नहीं किया।"

कुछ देर में रागिनी जागी। उसने अपनी शय्या पर चारों ओर टटोला, उसने निराश क्रंदन में पुकारा—"कहाँ है?"

"क्या?" दसवंत ने उत्तर दिया।

"मेरा बच्चा?" रागिनी उठने लगी।

दसवंत ने पकड़ लिया। उठने नहीं दिया उसे—"बहुत दुर्बल हो गई हो तुम रागिनी! उठो नहीं, गिर पड़ोगी, और फिर बेहोश हो जाओगी कहीं।"

"कहाँ है मेरा बच्चा?" इतने उच्च स्वर से रागिनी कभी नहीं चिल्लाई थी।

महाराजिन दौड़ती हुई आ पहुँची।

"मृत मांसपिंड था केवल रागिनी!"

"दिखा दो मुझे।"

"मैं उसे भूमिस्थ कर आया।"

"मैं वहीं चलकर देखूँगी।"

"ऐसी दुर्बल अवस्था में? मेरा अविश्वास हो, तो महाराजिन से पूछ लो। तुम्हारे कर उत्तप्त हैं, तुम्हें ज्वर भी है। दूध पिओगी कुछ?"

"नहीं पिऊँगी। पहले उसे दिखा दो मुझे।" रागिनी किसी तरह भी मानने को तैयार न हुई।

दसवंत ने महाराजिन से हरीरा ले आने को कहा, वह चली गई। रागिनी उसी प्रकार उठ जाने के लिये छटपटाने लगी। दसवंत उसे रोकते-रोकते थक गया। रागिनी दसवंत का बंधन छुड़ाकर उठ खड़ी हुई। न-जाने इतनी शक्ति कहाँ से आ गई उसकी क्षीण काया में। वह दौड़ती हुई घर में इधर-उधर खोजने लगी। शीघ्र ही थक गई, और देहली की ठोकर खाकर गिर पड़ी। उसके सिर में चोट लग गई, समीप ही पड़े हुए एक लोटे से। रक्त निकलने लगा सिर से, और वह फिर बेहोश हो गई।

महाराजिन दौड़ती हुई आई। दोनो ने मिलकर उसे शय्या पर सुलाया, और उसके होश में आने के उपचार करने लगे।

बड़ी कठिनता से रागिनी के चेतना जागी। बल-पूर्वक उसके मुँह में कुछ हरीरा डाला उन्होंने।

रागिनी धीरे-धीरे बोली—"दसवंत !"

दसवंत चौंक पड़ा ! ऐसे उसका नाम लेकर कभी नहीं पुकारा था रागिनी ने। दसवंत चुपचाप रहा।

वह फिर बोली—"नहीं सुनते दसवंत ! एक कहानी कहती हूँ तुमसे।"

दसवंत ने कहा—"अधिक न बोलो रागिनी ! तुम अत्यंत अशक्त हो। चुपचाप विश्राम करो।

पर वह चुप न हुई—"एक सुंदरी स्त्री थी, राजभवन की गायिका, उसका नाम था हीरा। राजभवन में उसे सभी सुख प्राप्त थे। पर वह मरीचिका के पीछे दौड़ने को आकुल हो उठी, और एक दिन राजभवन से निकल भागी। इस बात को आज नौ वर्ष हो गए।"

"कहना न मानोगी रागिनी !"

"कई वर्ष तक राजा ने उसकी खोज के लिये बड़ा श्रम किया, पर्याप्त धन व्यय किया। पर सब व्यर्थ हुआ, आज सब हीरा को भूल गए हैं।"

दसवंत ने उसके अधरों पर हाथ रखकर उसे चुप कराना चाहा। उसने हाथ झटककर दूर कर दिया। दसवंत को भी वह कहानी सुनने के लिये कौतूहल हो रहा था।

रागिनी ने कहा—"और, तुमने उसे अपनी मानसिक सृष्टि

से मोहित कर लिया। तुमने उसे कला के स्वप्न दिखाए। तुमने उसके यौवन से क्रीड़ा करने की ठानी। इसी से हे अतृप्त वासना के भूत-संचय! तेरी साधना पाखंड बन गई!"

दसवंत के पैर काँपने लगे इस ताड़ना से। उसने महाराजिन की ओर देखा, वह एकाग्र होकर सुन रही थी।

दसवंत ने धीरे-धीरे कहा महाराजिन से—"मुझे इसके मस्तिष्क में विकृति जान पड़ती है।"

"हाँ, मैं भी कुछ दिन से ऐसा ही देख रही हूँ।"

"सो जा मेरे लाल! और दिन तो तू कहानी सुनते-सुनते सो जाता था, आज क्या हो गया?" रागिनी ने शय्या पर कुछ टटोला, और निराश होकर कहने लगी—"कहाँ है मेरा बच्चा! लाओ, लाओ, वह भूखा है, और मेरी छाती दूध की भरी!"

आठ

शु-गृह बनकर तैयार हुआ शीघ्र ही। शिशु-गृह का पहला शिशु वहाँ रक्खा गया, उसी दासी के साथ। शेष शिशुओं के लिये अकबर के राज्य के तमाम सूबों में समाचार भेजा गया। धीरे-धीरे अनेक शिशु लाकर भरती कर दिए गए उस गृह में। उनमें से सभी दीन और दरिद्रियों की संतान थे। और कौन अपना पुत्र दे देता ?

इलाहाबाद के सूबेदार ने चार शिशु भेजे। वे चारों ही भिखारियों से मोल लिए गए थे। सम्राट् का कृपा-पात्र बनने के लिये मालवा से एक शिशु आया। उसकी माता उसे जन्म देने के बाद ही मर गई थी। गुजरात, पंजाब, बिहार, बंगाल सभी प्रांतों से शिशु आकर जमा हो गए सीकरी में, कुछ ही सप्ताहों के भीतर।

उनकी संख्या कुल मिलाकर बीस हो गई। सम्राट् ने कहा—"पर्याप्त हैं, और अधिक से क्या करना है।" चारों ओर राज्य में इस आशय की राजाज्ञा भेज दी गई।

शिशु-गृह के एक-एक कमरे में पाँच-पाँच शिशु रक्खे गए। हरएक के गले में एक-एक सोने का तावीज़ लटका

दिया गया। तावीज़ में उस लड़के की जन्म-भूमि और माता-पिता का पते के सहित नाम लिखा हुआ एक काग़ज रख दिया गया था। केवल उस पहले बालक के माता-पिता का नाम अज्ञात था। उसके तावीज़ के काग़ज़ में लिखा गया—"आदि शिशु।"

एक रजिस्टर में भी शिशुओं के नाम-धाम दर्ज हुए। वह सौंपा गया कवि फ़ैज़ी को। उन बालकों का नियमित निरीक्षण करते समय कोई विशेष बात देखने में आवे, तो उसे भी उसी रजिष्टर में लिखने की आज्ञा हुई फ़ैज़ी को।

प्रत्येक कमरे के लिये दो-दो धाइयाँ नियुक्त हुईं। पाँचों शिशुओं को खिलाना-पिलाना, उन्हें शौच-स्नान कराना, मालिश करना, सुलाना, कपड़े धोना, सब काम उन्हीं को करने पड़ते थे। शिशुओं के कमरे में उन्हें मुख से शब्द निकालने की बिलकुल आज्ञा न थी। उनके सामने मुख दिखाना भी मना था। आँखों के निकट जालीदार बुरक़ा पहने रहती थीं वे। और भी सावधानी के लिये मुख एक पट्टी से बाँधे रखती थीं।

ऊपर की मंजिल में, झरोखों पर तीक्ष्ण दृष्टि रक्खे हुए फ़ैज़ी का यह कर्तव्य था कि वह देखे, हर कमरे में राजा के वे नियम बिलकुल सही-सही बरते जायँ। उनमें भूल-चूक न हो एक क्षण के लिये भी, तिल-भर भी।

दसों धाइयों के रहने और खाने-पीने के लिये शिशु-गृह में ही कमरे बना दिए गए थे।

धीरे-धीरे रागिनी के शरीर की दुर्बलता तो ठीक होती गई, पर उसके मस्तिष्क की विकृति, उसमें सुधार नहीं हुआ। कभी कुछ देर वह ठीक-ठीक बात करती, फिर वही असंभव और असंबद्ध प्रलाप आरंभ कर देती। उसकी बातों में विशेष उल्लेख उसके बालक का ही होता था। ऐसा जान पड़ता था, उसे मर्मांतक पीड़ा पहुँची है, उसकी गोद से उसका बालक छीन लिए जाने पर।

दसवंत के मन में जो पुत्र-परित्याग का पश्चात्ताप हो गया था वह अधिक समय तक नहीं रहा। दूसरे ही दिन उसने शिशु-गृह के प्रस्ताव के बारे में सुन लिया था। उसे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि उसका परित्यक्त शिशु स्वयं सम्राट् ने सँभाला है।

महाराजिन ने बड़े कौतूहल से पूछा—"सम्राट् को उस परित्यक्त शिशु के पालन की क्या सूझी?"

"ऐसे ही दस-पाँच सुलझे-स्पष्ट विचारों के बीच में एक-आध ऐसी ही ऊटपटाँग बात सोच लेते हैं सम्राट्। इस मूल्यवान् धरती का राजमुकुट पहनाया है भगवान् ने। बात-की-बात में उनका वह छाया-प्रसाद मूर्तिमान् कर दिया जाता है भूमि पर। और भी तो अनेक शिशु आए हैं। लाहौर, पेशावर, दिल्ली, बिहार, बंगाल, मालवा, गुजरात से।

एक शिशु आज ही आया है सौदागरों के साथ। उनके सौतेले भाई मिर्ज़ा हकीममुहम्मद ने भेजा है काबुल से, बड़े भाई का भ्रम दूर करने को कदाचित्।" कुछ हँसते हुए कहा चित्रकार ने यह अंतिम वाक्य।

"भ्रम कैसा?"

"भ्रम कहो या भय। चाटुकार कहते हैं, भगवान् की प्रार्थना में ही बिताता है अकबर रात का अधिक भाग। मैं समझता हूँ, सम्राट् जागता है भाई के इस भय से कि न-जाने किस समय वह भारत पर चढ़ाई कर उसका सिंहासन न उलट दे। तभी तो अपनी राजधानी वह आगरा में खिसका लाया, और आगरा से यहाँ इस जंगल में।"

"यहाँ तो वह उस मुसलमान साधु की भक्ति से आए हैं।"

"सब कहने की बातें हैं।"

"साधु-संतों में बड़ी भक्ति है सम्राट् की। तुम्हीं कहते थे, कई बार उन्होंने अजमेर आदि की, संतों के दर्शन को, पैदल यात्रा की है।"

"अब कहाँ? यह जो नाना धर्मों के बाजीगर जमा हुए हैं सीकरी में, उन्होंने सैकड़ों जगह जड़ जमा दी है अकबर के विश्वास की।"

"शेख़ सलीम चिश्ती पर तो उनकी अचल श्रद्धा है।"

"वह कुछ नहीं, कह तो चुका हूँ तुमसे। एक मसजिद बना दी उनके नाम से, एक समाधि बना दी। हो गया

क्या। आज उस साधु का देहांत हुए सात-आठ वर्ष हो गए होंगे। कभी कोई चर्चा नहीं सुन पड़ती उनकी।"

"यह सात-आठ मील के घेरे का शहर?"

"भक्ति के आवरण में राजनीति की कूट चाल!" दसवंत ने कहा।

इसी समय रागिनी अपने कक्ष में बड़े ज़ोर से हँस पड़ी। दोनो ने उस ओर ध्यान दिया।

"फिर उतना ही रो लेती हैं यह।" महाराजिन ने कहा।"

दोनो उस कक्ष की ओर बढ़े।

धीर गति से दसवंत ने रागिनी के कक्ष में देखा, सो रही थी वह।

फिर बोल उठी बड़ी पीड़ा व्यक्त कर—"हैं, बड़ा दुष्ट है तू भैरव! दूध काट लिया फिर? राजा कोमल धैवत और मंत्री कोमल रिषभ। दोनो कोमल—राजा भी, मंत्री भी, तभी तो राजकाज में यह सारी गड़बड़ है। अरे काटो नहीं, भूँको तो सही।" फिर वह गाने लगी—

बालावस्था खेल गँवाई,
तरुण भए, रमणी मन भाई;
वृद्ध भए, कफ-वायु ने घेरा,
अजहुँ चेत अभिमानी!

दसवंत बोला—"गाने दो, कितना मनोमोहक गा रही हैं यह आज अनेक वर्षों में।"

महाराजिन ने कहा—"बड़ा सरस कंठ है। इतना मधुर गीत इस प्रकार छिपाती हुई चली आ रही थी यह। आज ही सुना मैंने !"

"कितना शुद्ध, स्वर और ताल दोनो में। जैसे और बातों की सुध-बुध खो गई है। गीत के नियम क्यों नहीं विस्मृत हुए !"

गीत बंद कर रागिनी फिर बड़बड़ाने लगी - "क्यों छिपा दिया उन्होंने तुम्हें ? तुम मुझे पुकारो लाल ! मैं इस कारागार की प्राचीरों को तोड़कर आ जाऊँगी तुम्हारे पास।

महाराजिन ने कहा--"एक बात है। उस बालक को ला नहीं सकते आप ? उसे पाकर यह ठीक हो जायँगी, मेरा पक्का विश्वास है।"

"कैसे ले आऊँ महाराजिन !"

"सम्राट् के लिये वह बड़ी भारी वस्तु थोड़े है। राजा की एक सनक हुई। किसी प्रकार ले आओ।"

"एक असंभव कल्पना है यह। तिहरे पहरे के भीतर है वह बालक। बाहर से एक बड़ी ऊँची दीवार है दुर्ग के प्रकार की। उसके फाटक पर दो सशस्त्र सैनिक आठों पहर सतर्क रहते हैं। उसमें भीतर शिशु-गृह का फाटक, एक सिपाही वहाँ रहता है। आठ दासियाँ उस घर के भीतर हैं। और, इन सबके ऊपर कवि फ़ैज़ी की आँख शिशु-गृह के

"सम्राट् से जाकर सच-सच बात कह दो। वह दयालु हैं, मान जायँगे।"

"बड़ा हो जाने दो उस बालक को, तब ला दूँगा।"

"पनघट पर कोई कह रहा था, बड़े होने पर ये बालक सूबेदार बनाए जायँगे। विशेष रीति से इनको वैसी शिक्षा दी जायगी पालने से ही।"

"ये सब गप्पें हैं। सम्राट् की सनक के सिवा यह और कोई बात नहीं।"

"फिर क्या होगा? इनकी यह दशा देखी नहीं जाती।"

"विवशता! मेरे मनको क्या सुख पहुँच रहा है?"

"रागिनी फिर पड़े-पड़े ही बोली – "कहाँ चले गए लाल! तुम्हें कितने वर्षों से खोज रही हूँ। हरियाली से भरी धरती पर, तारिकाओं से जड़े आकाश पर और अतल नील सिंधु की गहराई में। आओ, आओ भरव!"

"भैरव?" महाराजिन ने जिज्ञासा के स्वर में कहा।

"हाँ जान पड़ता है, उस शिशु का नाम रक्खा है इन्होंने। भैरव एक राग का नाम है। नियमित शिक्षा पाई है इन्होंने भारतीय संगीत की। वही याद आ गया।"

"एक बात और सूझ पड़ती है।"

"क्या बात?" दसवंत ने पूछा।

"कहीं से कोई दूसरा बालक ले आओ। इन्हें क्या पहचान? कह देंगे लो, यही तुम्हारा बच्चा है।"

"मुझे भी ऐसा विचार आया था। पर कौन दे देगा अपना लड़का ?"

"किसी दीन-दुखी को पर्याप्त धन देकर भी नहीं ला सकते ?"

"चेष्टा करूँगा देखो। कोई कहेगा, किसलिये, तो क्या बताऊँगा ?"

"कह देना, पालन करने के लिये। लोग चिड़िया और जानवर पालते हैं।"

रागिनी कह रही थी—"अपने रक्त की बूँदों से मैंने तुम्हारी रचना की है। यह मेरी ही हड्डियों का ढाँचा है, जिसे मैंने अपने मांस से स्थिर किया है। क्यों उन्होंने बिछुड़ा दिया तुम्हें मुझसे ?"

वे दोनो रागिनी के निकट गए।

"रागिनी !"

"हाँ, कौन हो तुम ? स्वर कुछ-कुछ पहचान तो रही हूँ।"

"मैं हूँ दसवंत। किससे बातें कर रही थीं ?"

"वही, उसी से बातें कर रही थी।"

"कौन ?"

"वही बालक मेरा। तुम्हारी आहट पाकर भाग गया वह।"

"क्या होगया तुम्हें रागिनी ! तुम ये कैसी बातें कर रही हो?"

"क्या हो गया मुझे ? कुछ भी नहीं। कुछ दिन बीमार हो गई थी, अब तो ठीक हूँ।"

"हाँ-हाँ ठीक हो। अधिक बक-बक न किया करो, तुम्हारा मस्तिष्क दुर्बल है।"

"तुम तो कहते थे, तुम्हारे कोई बालक उत्पन्न नहीं हुआ। फिर वह कहाँ से चला आता है मेरे पास ?"

दसवंत ने महाराजिन के मुख की ओर देखा कुछ क्षण। फिर कहा—"हुआ है रागिनी! तुम्हारे लड़का हुआ है।"

रागिनी शय्या त्यागकर उठ खड़ी हुई, और दसवंत के हाथ पकड़कर बोली—"फिर तुम क्यों झूठ बोले! तुमने कभी मुझसे कोई बात नहीं छिपाई थी।"

"इसके लिये क्षमा करो रागिनी! तुम बीमार थीं, इसलिये—" दसवंत बीच ही में चुप हो गया।

"इसलिये क्या ? किसे दे आए तुम मेरा बच्चा ? मैं नहीं जानती, लाओ अभी।"

"लाऊँगा, धीरज रक्खो। उसकी कुछ चिंता न करो। वह अत्यंत सुरक्षित स्थान में है। पहले तुम बिलकुल स्वस्थ हो जाओ। ला दूँगा।"

"मैं स्वस्थ हूँ, बिलकुल स्वस्थ हूँ।"

"कहाँ हो ? अभी तुम कह रही थीं, मेरा पुत्र मेरे पास आता है, यह क्या स्वस्थ होने की बात हुई ?"

"आता तो है वह। पर मैं उसका स्पर्श पा नहीं सकती। उसे अंक भरकर पकड़ नहीं सकती। मैं उसके मुख पर सुमधुर

मुसकान खिलती हुई देखती हूँ, चुंबन नहीं कर सकती। उसको ला दो, उसे ला दो। मैं ठीक हो जाऊँगी।"

"ला दूँगा। विश्वास रक्खो।"

"कब?"

"जब देखूँगा मैं, तुम बिलकुल ठीक हो गई हो, उसी दिन।

"अच्छी बात है।"

शिशु-गृह की स्थापना के बाद अकबर का मन एक अलौकिक उत्साह से भर गया। उसे पक्का विश्वास हो गया, मेरा प्रयोग सफल होगा। मैं मानवी भाषा पा लूँगा। मुझे सारे भारत के एकीकरण की कुंजी मिल गई।

भाषा के प्रश्न का इस प्रकार हल पाकर वह अब मानव-धर्म की रचना में लगा। उपासना-गृह में भारत के सभी धर्मों का प्रतिनिधित्व सम्यक् रूप से हो गया था। उन सबका सार निकालकर एक व्यापक धर्म की रचना कुछ भी कठिन काम न समझा उसने।

उसे किसी वस्तु की कमी न थी। उसका राजकोष अनंत धन-राशि से परिपूर्ण था। इतिहासकार कहते हैं, समकालीन जगत् में, उस समय अकबर के समकोटि धनशाली सम्राट् और कोई न था समस्त क्षिति-मंडल में। अक्षर-ज्ञान न होने पर भी उसकी ज्ञानेंद्रियाँ चरम विकास को प्राप्त थीं। उसकी स्मृति अद्भुत थी, उसकी धारणा अप्रतिम, उसकी कल्पना की कवि और कलाकार स्पर्धा करते थे।

उसकी राजसभा में नाना देशों के विद्वान् सुशोभित थे। उसके नवरत्न असाधारण प्रतिभा-संपन्न थे। उसने कवि और कलाकारों की प्रतिष्ठा बढ़ाई थी। नाना धर्म के बड़े-से-बड़े आचार्यों ने उसके धार्मिक क्षितिज को विस्तारित कर दिया था। उसकेराज्य के प्रबंधक वीर, दूरदर्शी और दक्ष अर्थ-शास्त्री थे। उसका सैन्य-संग्रह शत्रु को भय-त्रस्त कर देता था। केवल एक कमी थी, धार्मिक विवाद शांत करने के लिये उसके पास अंतिम शब्द न था। धर्म-चर्चा उसका सबसे प्रिय विषय था। वह अक्सर कहता था—"यदि राज्य के विग्रह और शांति के लिये न होता, तो मैं सदैव धर्म-सभा में प्रभु और मनुष्य के सम्बन्ध की ही चर्चा सुनता रहता।"

भारत के एक धर्म के लिये अंत में उसने निश्चय किया, मुझे उसके सूत्र भी लेने ही पड़ेंगे अपने हाथों में। शेख मुबारक ने उसके मस्तिष्क में ये विचार भर दिए थे! ईसाई पादरियों ने भी योरप में पोप की धार्मिक प्रधानता की कथा उसे सुनाई थी। उसने निश्चय किया—"धर्म के सूत्र भी मेरे ही हाथों में आने उचित हैं।"

शीघ्र ही राज्य में यह घोषणा की गई कि धर्म के प्रधान आचार्य के पद पर सम्राट् अकबर प्रतिष्ठित हुए हैं। अब से समस्त धार्मिक मतभेदों के निर्णायक वही हुए।

मुसलमान धर्म के पंडितों में इस घोषणा से बड़ा असंतोष फैला। और, अनेक शक्ति के लोभी सेनानायक, जो अकबर

के राजप्रबंध से असंतुष्ट थे, उन्होंने इस बात को अपनी महती इच्छाओं की पूर्ति के लिये निमित्त बनाया।

पर सम्राट् अपनी योजना में मानव-मात्र की मैत्री का दूत हो सकता है। वह निष्कपट हृदय से चाहता था, भारतवर्ष एक हो। उसके नाना संप्रदाय गलकर मिल जायँ—एक मानव-धर्म में। उसकी परस्पर विरोधिनी मत-प्रवृत्तियाँ अपनी कलह दूर कर भगवान् के नाम पर एक हो जायँ।

बिहार और बंगाल के सूबे राजधानी से दूर थे। सबसे पहले विद्रोह वहीं पनपा। वहीं के अनेक सरदारों ने खुले आम यह प्रचार करना आरंभ किया कि अकबर विधर्मी हो गया है। वह मुसलमानी धर्म-पुस्तक के विरुद्ध आचरण कर रहा है। उसने अपनी राज्य-प्रणाली में हिंदुओं को अच्छे-अच्छे पद दिए हैं। वह हिंदुओं की मूर्ति-पूजा करता है। उसने पारसियों की अग्नि और सूर्य की उपासना को अपनाया है। उसने जैनों की अहिंसा का पालन किया है। उसने ईसाइयों के उपदेशों का अनुकरण किया है—उसने ईसा और मरियम के चित्रों से राजभवन की दीवारें अंकित कराई हैं, उसने राजकुमार मुराद की शिक्षा के लिये एक पादरी को गुरु नियत किया है।

धर्म का सहारा राजनीति की रक्तप्रवाहिनी नाड़ी है। उसके बल पर जनता के आंदोलनों की शक्ति बढ़ती है। बिहार और बंगाल के विद्रोही सरदारों ने जौनपुर के एक

मौलवी से व्यवस्था लिखा ली कि अकबर धर्म-विद्रोही हो गया है। उसके शासन से मुहम्मद साहब के धर्म-सूत्र संकट में पड़ गए हैं। इसलिये उसके विरुद्ध बलवा न्याय और धर्मसूचक है।

आरंभ में छिपे-छिपे और फिर खुले तौर पर उन्होंने सम्राट् के विरुद्ध प्रचार करना और सेना का संग्रह आरंभ किया।

उन्होंने काबुल के राजा, अकबर के सौतेले भाई मुहम्मद हकीम को सहायता के लिये लिखा।

मुज़फ़्फ़रख़ाँ बंगाल का शासक था उन दिनों। बड़ी कठोर नीति थी उसकी। अनेक सरदार और अमीर उसके दुर्व्यवहार से असंतुष्ट हो गए थे।

मुज़फ़्फ़रख़ाँ को विद्रोहियों ने धोखे से मार डाला। उसकी सारी संपत्ति लूट ली। इस समय तीस हज़ार घुड़सवार विद्रोहियों में सम्मिलित हो गए थे।

सम्राट् का एक राजनीतिक बंदी मुज़फ़्फ़रख़ाँ के बंधन में था। विद्रोहियों ने उसके कारागार के द्वार तोड़कर उसे छुड़ा लिया, और अपना सेनापति बनाया। विद्रोही मनमानी करने लगे। समस्त प्रांत में भय के बादल छा गए। आतंक, अशांति और हिंसा से सारा सूबा भर गया।

अकबर उस दिन शिशु-गृह का निरीक्षण करने के लिये गया हुआ था।

"हाँ फ़ैज़ी! ये छोटे-छोटे बालक, जो इस गृह में बंदी हैं,

हमारे गुरु बनेंगे शीघ्र ही। हम इनसे मानवी भाषा सीखेंगे। सबसे पहले कदाचित् तुम।" सम्राट् ने कहा।

गौरव से उज्ज्वल होकर फ़ैज़ी ने सम्राट् के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित की मूक भाषा में।

"फिर तुम उसी भाषा में कविता करोगे? क्यों?"

"हाँ महाराज!"

"पहले उस काव्य की अभिव्यक्ति सीमित ही रहेगी, पर धीरे-धीरे अपरिच्छिन्न हो जायगी, और फिर वायु-आकाश की भाँति सारी धरती पर व्यापक हो जायगी।"

"हाँ महाराज, वह स्वाभाविक भाषा अपना मार्ग स्वयं ही बनाती हुई चलेगी। स्वच्छ-सलिला सरिता की भाँति मार्ग की बाधाओं पर विजयिनी होकर।"

"गोआ के पादरियों ने बाइबिल में से पढ़कर मुझे सुनाया था। पहली ही किताब, सृष्टि की किताब उसका नाम है। उसमें लिखा है, पहले सारे संसार की एक ही भाषा थी।"

"वही मानवी भाषा होगी। अब भी उसकी विकृत समानता अनेक भाषाओं में मिलती है। मनुष्य के अहंकार—अपने को ही सर्वश्रेष्ठ समझने की वृत्ति ने उसे छिन्न-भिन्न कर दिया।"

"ऐसा भी संभव है, पर सृष्टि की पुस्तक में लिखा है। स्वयं भगवान् ने उस भाषा में अंतर डाल दिया!"

"क्यों?"

"कदाचित् आदम के संतान की पाप-प्रेरणा देखकर।"

"अब भगवान् उस भाषा के फिर उद्भव पर क्या विचार करेंगे ?"

"वह क्या विचार करेंगे फ़ैज़ी ! यह उन्हीं का विचार नहीं है क्या, जो मेरे हृदय में उत्पन्न हुआ है।"

"सत्य है सम्राट् ! हमारी धर्म-पुस्तक में भी तो हिजरी के एक हज़ार वर्ष बीतने पर अवतार के प्रकट होने की बात लिखी है।"

सम्राट् मूक रहकर कुछ विचार कर रहे थे।

"यह हिजरी का ९८८वाँ वर्ष है। बारह वर्ष और हैं, तब तक यह मानवी भाषा भी प्रकट होकर परिपक्व हो जायगी। और वह अवतार, सम्राट् आप हैं। कई बार मैं कह चुका हूँ।"

"प्रमाण ?"

"आज तेरह साल से छाया की भाँति सम्राट् के साथ-साथ हूँ। एक नहीं, एक हज़ार प्रमाण दे सकता हूँ। लेकिन सूर्य को कौन दीपक लेकर खोजता है ?"

अकबर ने आकाश की ओर मुख कर हाथ जोड़े। वह कुछ देर उसी मुद्रा में स्थिर रहा।

फ़ैज़ी ने कहा—"सम्राट् ! यही यह मानवी भाषा के उद्भव की आवश्यकता, किसने अनुभव की ? इतनी सदियाँ बीत गईं ! सारे जगत् को एक कुटुंब में बदल देने का यह साधन

किसी को नहीं सूझा। इतने बड़े-बड़े महापुरुष धरती पर हुए! और उसको फिर धरती पर प्रकट कर देने का प्रयोग, यह अवतारी पुरुष के सिवा और किसकी कल्पना में आ सकता है ?"

"एक बात और भी बड़ी आश्चर्यजनक पादरियों ने मानवी भाषा के संबंध में मुझे बताई। ईसा के शिष्य जब यरूशलम में ईसाई धर्म का प्रचार करने लगे, तो नाना जातियों के लोगों की भीड़ एकत्र होती थी। उनकी भाषा भिन्न-भिन्न थी। पर जब वे शिष्यों के उपदेश सुनते थे, तो अपनी ही भाषा में। क्या यह कम अचरज की बात है—एक मनुष्य बोल रहा है, और दस जातियों के मनुष्य अपनी-अपनी भाषा में उसे सुन रहे हैं।"

"निस्संदेह सम्राट्! मानवी भाषा के प्रकट हो जाने पर, मेरी समझ में, उसके प्रसार में कुछ भी देर न लगेगी। वह विना प्रयास और परिश्रम के ही लोगों के मन में बस जायगी। जिस प्रकार मातृभाषा स्वयं ही आ जाती है। कौन उसे सीखता-सिखाता है ?"

सम्राट् उठे। शिशु-गृह के चारों कमरों में निरीक्षण के लिये बने पहले झरोखे पर आए। राजकवि ने उनका अनुसरण किया।

सम्राट् ने पहले कक्ष के भीतर झाँककर कहा—"अब ये शिशु लगभग डेढ़ वर्ष के हो गए।"

फ़ैज़ी बोला—'हाँ, इनकी अवस्थाओं में कुछ दिनों का ही अंतर है, अधिक-से-अधिक एक मास का होगा।"

"सबसे बड़ा कौन है ?"

"वही आदि-शिशु।"

"होना ही चाहिए उसे। यही इस विचार का सूत्रधार है।"

"महाराज, सबसे अधिक सुंदर और प्रतिभा-संपन्न भी इस समय यही ज्ञात होता है।"

"कैसे कहते हो ?"

"यद्यपि अभी इनके अधरों में केवल अक्षर ही प्रस्फुटित हुए हैं, तथापि मुख पर के भावों से जान पड़ता है। यह बालक सबसे कम रोता है। इसकी चेष्टाओं में भी आकर्षण है। बुद्धि भी तीव्र।"

'अब इन बालकों की शय्याएँ कुछ निकट रखवा देना, ताकि इन्हें यह बोध हो कि मेरे सिवा भी और जगत् है।"

"आदि-शिशु में यह आकांक्षा है। परसों इसकी धाई इसे दूध पिला रही थी, दूसरे कमरे से एक शिशु चिल्ला उठा—"

बीच ही में सम्राट् ने कहा—"एक बात ध्यान में आती है फ़ैज़ी!" कुछ सोचने लगा अकबर।

बाधा पाकर फ़ैज़ी चुपचाप सुनने लगा—"चिरंजीवी हों सम्राट्!"

"मैं विचारता हूँ, इन शिशुओं का उल्लेख आदर-प्रदर्शक

शब्दों में होना उचित है। ये मानव की खोई हुई भाषा के अन्वेषक हैं, इसलिये प्रतिष्ठा और पूजा के पात्र हैं।"

"ऐसा ही होगा महाराज ! मैं प्रधान दासी को बुलाकर आपकी यह आज्ञा प्रचारित कर दूँगा।"

"हाँ, फिर क्या हुआ ? जब दूसरे कमरे का बालक चिल्ला उठा !"

"तब तुरंत ही इस आदि-शिशु ने दूध पीना छोड़ दिया, और धाई की गोद से नीचे उतरने के लिये मचलने लगा।"

अकबर ने फिर बाधा दी—"इस बात पर भी ध्यान देना चाहिए फ़ैज़ी कि इन बालकों की कोई भी इच्छा न रोकी जाय। मुक्त और स्वाभाविक रीति से उन्हें चाहे जिधर जाने दिया जाय।"

"यह मुख्य बात है, सम्राट् ने शिशु-गृह की स्थापना के दिन यह शिशु-गृह के नियमों में लिखाया था मुझे। इसका उचित रीति से पालन होता है महाराज !"

"ठीक है।"

"धाई ने छोड़ दिया शिशु को। यह घुटनों के बल चलकर उधर ही जाने लगे। वहाँ जाकर यह उन रोते हुए शिशु की शय्या की ओर बढ़े। धाई ने इन्हें उस शय्या पर सहारा देकर चढ़ा दिया। कुछ देर उनको देखकर यह भी रोने लगे।"

यही मानव-धर्म है कवि। इसकी प्रेरणा मनुष्य में स्वाभाविक है—दूसरे के दुख में दुखी होना। मनुष्य के पापों की

छाया पड़ने से ही पवित्र बालक मलिन हो जाता है। ये शिशु हमें भाषा ही नहीं, धर्म की शिक्षा भी देंगे। अब कुछ दिन बाद इन्हें एक ही कमरे में रख देने की व्यवस्था करनी होगी।"

"जब ये सब चलने-फिरने लगेंगे, तो इसकी कोई आवश्यकता ही न रहेगी। ये स्वयं ही एक हो जायँगे—इनमें सामाजिकता का संबंध हो जायगा।"

"हाँ, यह भी ठीक है।" कहा सम्राट् ने—"इस समय सो रहे हैं आदि-शिशु।" सम्राट् दूसरे झरोखे पर गए।

"और, एक दिन की बात है, धाई आदि-शिशु की धूप में मालिश कर रही थी। उनके मुख पर धूप से चकाचौंध उत्पन्न न हो, इस मतलब से धाई ने उनका मुख धूप से कुछ दूर कर दिया। वह फिर वहीं पर आ गए। धाई ने फिर उन्हें हटा दिया, और वह फिर सूर्य की ही ओर मुख कर पड़ गए। यही नहीं, वह सूर्य की ओर दोनो हाथ जोड़ने लगे।"

सम्राट् ने चकित होकर कवि का हाथ पकड़ लिया—"यह सच है कवि!"

"हाँ महाराज!"

"बहुत दिनों से मेरे मन में उठनेवाला एक विचार पक्का हुआ। मैंने कहा था न तुमसे, ये शिशु हमारे धर्म को भी स्पष्ट करेंगे।"

"क्या बात स्पष्ट हुई?"

"मानव-धर्म के लिये मैं एक प्रतीक ढूँढ़ रहा था, जिसे समस्त जातियाँ विना विरोध किए स्वीकार कर लें। ऐसा प्रतीक मुझे सूर्य ही मिला। आदि-शिशु को किसने सूर्य की उपासना सिखाई, सूर्य की ही तेजस्विता ने। मेरा वह निश्चय दृढ़ हुआ फ़ैज़ी! नवीन मानव-धर्म का प्रतीक सूर्य होगा, उसके अभाव में दीपक और अग्नि। मेरा विश्वास है, यह प्रतीक धरती की सभी जातियों को मान्य होगा।"

"आपके पूर्वज सम्राट् तैमूर भी तो अपनी युवावस्था में, मुसलमान होने से पहले, सूर्य, चंद्रमा, तारिकाओं और अग्नि के उपासक थे।"

"हाँ।" सम्राट् तीसरे झरोखे पर गए—"और आज आठवीं पीढ़ी में तैमूर की संतान फिर उसी सूर्योपासना पर लौट आई।"

पहरे पर की दासी ने आकर माथा विनत किया—"सम्राट् की जय हो! किसी आवश्यक काम से एक दूत आया है, उसे यहाँ आने की आज्ञा मिले।"

"नहीं दासी! जो नियुक्त हैं, उनके अतिरिक्त यहाँ दूसरा नहीं आ सकता।"

"राजसभा से आया है। कहता है, अत्यंत आवश्यक काम है।"

"कह दो उससे। मैं अभी राजसभा में चलता हूँ।"

दासी संदेश लेकर चली गई।

सम्राट् फिर अपनी बात पर आकर बोले—"बात ऐसी है कवि, संसार में सब तुलनात्मक है। एक और अनेक का केवल झगड़ा है। एक में अनेक निहित है, और अनेक क्या एक ही से नहीं बना है। इसी प्रकार साकार और निराकार। निराकार की जब हम भावना करेंगे, तो कुछ-न-कुछ वह भौतिक बंधनों में घिर ही जायगा, बिना उसके इंद्रियगम्य वह हो नहीं सकता। ऐसे ही साकारता, आरंभ के क-ख की सीढ़ियों का अतिक्रमण कर नाम-रूप-हीनता के आकाश में विलीन हो जाती है।"

फ़ैज़ी बोला—"धन्य सम्राट्! मुझे एक सूफ़ी कवि की कविता याद आती है—

तू इतना प्रकटा कण-कण में,
भ्रम में सब अंतर्धान हुआ;
तू इतना छिपा आवरण में,
हमको रहस्य का ज्ञान हुआ।"

"बहुत सुंदर कवि! सूर्य की उपासना में निराकार और साकार पूजा का अद्भुत मिलन है"—सम्राट् कह रहे थे।

दासी घबराई हुई आई। उसने बाधा दी—"सम्राट्! दीनबंधु! बंगाल में बलवा हो गया।"

तुम्हें धर्म की व्याख्या के समय बाधा न देनी चाहिए। कोई चिंता नहीं। पूर्व के विद्रोह से सम्राट् को कोई भय

नहीं है। हाँ, उत्तर-पश्चिम की कुछ चिंता अवश्य है। जाओ, कह दो, मैं आ ही रहा हूँ।"

दासी फिर लौट गई।

सम्राट् ने कहा—"सूर्य-पूजा मूर्ति-पूजा नहीं कही जा सकती, वह प्रतीक-पूजा है। प्रतीक-पूजा सब निराकारवादी करते हैं। ईसाइयों में क्रॉस, मुसलमानों में चंद्र-तारक और बौद्धों का चक्र—ये प्रतीक नहीं हैं क्या ?"

"प्रकट हैं सम्राट् !"

"मेरी सूर्योपासना देखकर जो लोग मुझे मूर्तिपूजक कहते हैं, भूल करते हैं। एक ज्योति का गोला—मूर्ति कहाँ से हो गई ! भगवान् की तेजस्विता की केवल एक चिनगारी कवि ! जब वह जागता है, तो धरती जागती है, और जब वह अस्त हो जाता है, तो धरातल का सारा जीवन मानो शेष हो जाता है। जल के जीव, धरती के प्राणी और आकाश के पक्षियों में क्या एक-एक को वही स्फूर्ति नहीं पहुँचाता ?"

"हाँ महाराज, यदि सूर्य न हो, तो संसार का सारा जीवन समाप्त हो जाय।"

"और भी एक दूसरी बात है कवि ! सारी वसुंधरा पर काल कितना व्यापा हुआ है। कोई कण और कोई कोण उसकी लपेट से मुक्त नहीं। जो दिखाई दे रहा है, उसे यह निगल जाता है, जो उपजता है, उसे यह खा जाता है।

काल—महाकाल, बली काल यही तो समय है—इसकी स्पष्ट भावना कौन देता है ? यही सूर्य । कौन अविराम गति से इसे तोलता रहता है ? यही सूर्य । इतना महान् और व्यापक प्रतीक मेरी सारी प्रजा को मानना ही चाहिए ।"

"पंडित बीरबल एक दिन कह रहे थे, सूर्य के रथ के सात घोड़े हैं । मैं समझता हूँ, ये सात घोड़े और कुछ नहीं, सप्ताह के सात दिन हैं ।" फ़ैज़ी ने कहा ।

"यह कल्पना है । विचार के ऊँचे स्तर पर हमें कल्पना का सहारा लेना ही पड़ता है ।" सम्राट चौथे झरोखे पर आकर उसके भीतर झाँकने लगे—"इस कमरे के बालक सब सो रहे हैं । जब कभी ये साथ-साथ रोने लगते होंगे, तो धाइयाँ बड़ी कठिनता में पड़ जाती होंगी ।" सम्राट् ने फ़ैज़ी को लक्ष्य कर कहा ।

"हाँ महाराज, उन्हें चुप कराने के लिये किसी प्रकार के भी शब्द करने का निषेध है न उन्हें ।"

अकबर के मुख पर कुछ हँसी दिखाई दी ।

फिर दासी आई वहाँ पर ।

सम्राट् ने दासी से कहा—"क्यों ? तू फिर आ गई !"

"दूत कहता है महाराज ! विद्रोहियों ने बंगाल के सूबेदार मुज़फ़्फ़रखाँ को मार डाला है ।"

"मर जाने दो उसे, वह इसी योग्य था । मैंने कई बार उसे क्षमा किया । मैंने उसे आज्ञा दी थी, रोशनबेग का सिर

काटकर फ़ौरन् दरबार में भेजे। उससे अब तक न हो सका यह।"

फ़ैज़ी ने पूछा —"कौन रोशनबेग?"

"मेरे भाई मुहम्मद हकीम का गुप्तचर। जो अभी कुछ ही दिन हुए, काबुल से बंगाल गया है।...मुज़फ़्फ़रख़ाँ! मैंने बहुत समझाया था, उसे प्रजा-शासन प्रजा-पालन का नाम है, पर उसकी समझ ही में नहीं आया! स्वार्थपरता, कठोरता और अत्याचार को उसने शासन समझा। चलो दासी।"

अकबर निष्क्रांत हुआ, और दूत के साथ राजसभा को चला गया।

नौ

गाल-विद्रोह के दमन के लिये उसी दिन प्रबंध किया गया। सम्राट् स्वयं नहीं गए। सेना और सहायकों के सहित यह भार राजा टोडरमल को सौंपा गया। नियत समय पर उन्होंने प्रस्थान किया।

उत्तर-पश्चिम से गुप्तचर जो समाचार लाए, उनसे अकबर विशेष चिंतित हो उठा। दिल्ली और लाहौर के सूबेदारों को बहुत सतर्क रहने की राजाज्ञा भेजी गई। सीमा के द्वारों पर बहुत दक्ष गुप्तचरों का जाल बिछा दिया गया।

शीघ्र ही मिर्ज़ा मुहम्मद हकीम के एक सेनापति ने पंजाब पर आक्रमण किया। उसका सामना कर उसे भगा दिया गया।

मिर्ज़ा ने एक दूसरे सेनापति के संचालन में फिर चढ़ाई कर दी। कुँवर मानसिंह ने युद्ध में उसका वध किया, और उस पर विजय पाई। सेनापति के सामान की जब जाँच की गई, तो उसमें कुछ विद्रोह-जनक पत्र मिले, राज्य के प्रतिष्ठित पद-धारियों के नाम।

उनमें सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री शाह मंसूर भी था। सम्राट् ने उसकी योग्यता देखकर उसे साधारण स्थिति से अर्थ-मंत्री के

पद पर प्रतिष्ठित किया था। अकबर ने उदारता-पूर्वक कई बार उसके अपराधों को क्षमा किया था। इस बार उसे फिर विद्रोह में सम्मिलित पाकर उसने शाह मंसूर को पद से हटाकर कारागार में डाल दिया।

मिर्ज़ा मुहम्मद दूसरे सेनापति की पराजय से हतोत्साह नहीं हुआ, प्रत्युत इस बार स्वयं एक बड़ी सेना लेकर उसने भारतवर्ष पर चढ़ाई कर दी। वह बढ़ते हुए लाहौर तक चला आया। कुँअर मानसिंह ने वीरता-पूर्वक उसका सामना किया, और उसे अपने राज्य को लौट जाने पर विवश किया।

सम्राट् बहुत दिनों से भाई के विरुद्ध लड़ना नहीं चाहता था। पर अब उसने देखा, लड़ना ही पड़ेगा, इसके अतिरिक्त और कोई मार्ग ही नहीं।

सम्राट् ने सेना एकत्र की—बल और संख्या में काबुल के राजा की सेना से कहीं बढ़कर। उसने आठ महीने का वेतन सिपाहियों को पेशगी दे दिया। बहुत बड़े दल-बल के साथ सम्राट् की सेना ने शत्रु का सामना करने के लिये कूच किया। साथ में उसने बंदी शाह मंसूर को भी लिया।

मार्ग में शाह मंसूर के विरुद्ध और भी कई साक्षियाँ मिलीं। सम्राट् ने उसे कठिन दंड देना निश्चित किया। दरबार में शाह के अनेक प्रतिद्वंद्वी और शत्रु भी थे। उन सबने सम्राट् को उसे प्राण-दंड देने की राय दी। शाह को मार्ग में एक पेड़ पर लटकाकर फाँसी दे दी गई।

सेना और आगे बढ़ी। सरहद में जब वे पहुँचे, तो सम्राट् ने यह सुसमाचार सुना कि मिर्ज़ा सेना-सहित काबुल लौट गया। पर अकबर ने यहीं पर चढ़ाई समाप्त कर देना उचित न समझा। उसने शत्रु का पीछा करना निश्चय किया। इस बार सदैव के लिये इस चिंता से मुक्त हो जाना चाहता था। उसने पंजाब की अंतिम नदी सिंधु को भी पार किया, और शत्रु के देश में पदार्पण करने को तैयार हुआ।

दसवंत के जीवन का प्रत्येक पग काँटों से भर गया। एक मास के बाद दूसरा बीत गया—एक वर्ष बीत गया, दूसरा समाप्त होने को हुआ, पर रागिनी की दशा में कोई सुधार नहीं हुआ। उसकी मर्मवेधी मानसिक व्यथा से दसवंत भी भीतर-ही-भीतर घुलने लगा। उसके अंतःकरण ने बार-बार उसे लांछना दी—"रागिनी के जीवन की इस वेदना के उत्तर-दाता केवल तुम हो।"

उसकी कला की सारी उमंग, सारी स्फूर्ति शेष हो गई। सम्राट् अपने प्रवास-काल तक के लिये उसे पर्याप्त काम बता गए थे। पर दसवंत ने देखा, उसकी रंग-भरी कल्पना उसके पास से बिदा हो गई, उसकी कला का स्रोत सूख गया। वह तूलिका हाथ में लेता, और लिए ही रह जाता। वह तूलिका को फलक पर रखता, उसे और भी विकृत कर देता! वह सिर पर हाथ रखकर विचारता—"वह मानसिक सृष्टि किसने

उजाड़ दी मेरी, वह मानसी प्रतिमा किसने चूर-चूर कर दी मेरी ?"

अपने चिंतन में उसी को देखता वह। उस रागिनी को, उसकी उज्ज्वल आँखें धँसी हुई! उसके सुंदर कपोल मलिन, पीत और पिचक गए! उसके हास्य-गीत के भरे अधर विवर्ण और विरस! सुध-बुध-विहीन, कभी हँसती और कभी रोती हुई, शोक और करुणा की साकार प्रतिमा बनी हुई वह मुक्त-कुंतला रागिनी क्षण-भर के लिये भी दसवंत के विचार से अलग नहीं होती थी।

घर पर रागिनी को वह बहुत ही निकट पाता, काम पर उसकी स्मृति उसे न छोड़ती, शयन में उसी के स्वप्न उसे घेरे रहते। वह सोचता, धरती का कोई टुकड़ा ऐसा नहीं है क्या, जहाँ यह दुःख न हो?

एक ही कुशल थी अब तक। रागिनी का उन्माद उग्रता से भरा हुआ नहीं था। वह चुपचाप ही उसी प्रकार घर की चारदीवारी के भीतर अपने दिन काट रही थी।

नींद मानो रागिनी की पलकों को छोड़कर सदैव के लिये कहीं चली गई थी। भोजन भी बहुत सूक्ष्म, किसी दिन खाती ही नहीं थी, और किसी दिन आधी रात में चूल्हा जला, सामान निकाल स्वयं ही भोजन बनाने लगती थी।

शुद्धता का विचार भी गड़बड़ा गया था। कभी दिन-भर नहाती और हाथ धोती ही रह जाती थी, और कभी सप्ताहों

तक स्नान का नाम न लेती। जूठा, गूंदा, जैसा भी बरतन हाथ आया, उसी को लेकर बैठ जाती, और महाराजिन से खाना परोस देने को कहती।

कपड़ों को देखकर भी चिढ़ने लग गई थी। महाराजिन कपड़े धो-धोकर उसे पहना देती, और वह लीपने-माँजने को बैठ जाती। राख और मिट्टी में तमाम कपड़े सान लेती।

महाराजिन कितना ही कहती, हाथ-पैर जोड़ती—"तुम रहने दो, नौकरानी आवेगी, वह करेगी।"

"अब कहाँ आती है वह? तुम लोगों ने तो उसे नौकरी से निकाल दिया है न? तुम क्यों मुझे पागल समझती हो? क्या मैं जानती नहीं, चौका-बरतन तुम्हीं करने लगी हो, साल-भर हो गया होगा।"

विवश होकर महाराजिन को छोड़ देना पड़ता, मानती ही नहीं थी वह।

उस दिन वह फिर हटकर बैठ गई। कहने लगी—"तुम इतने दिन से वेश बदलकर यहाँ छिपी हो। फिर तुम्हें मुझसे ऐसे छिप जाने की क्या आवश्यकता पड़ गई?"

महाराजिन कुछ हँसती हुई बोली—"अच्छा, तुम उठकर जाओ अपने कमरे में, बरतनों में हाथ न लगाओ; नहीं तो मैं परसों उनकी तरह तुम्हें उठाकर वहाँ बंद कर आऊँगी।"

रागिनी नहीं मानी। एक थाली छीनकर उसे मलने लगी।

"न मानोगी फिर?"

"नहीं।" हँसती हुई वह बोली।

"उठूँ फिर मैं ?"

"उठकर ही क्या होगा ? अब तो मैं आज पहचान गई तुम्हें। सारा संसार छिपाना ही क्यों चाहता है, मेरी समझ ही में नहीं आता।"

"कौन हूँ मैं ?"

"वही हो, वही !"

"कहो तो सही कुछ।"

"तुम न, मा हो, मेरी मा। ऐसी, जैसी मैं भैरव की मा हूँ।" उसकी आँखें सजल हो उठीं। उसके हाथ की थाली पर टपाटप बूँदें पड़ने लगीं। "परंतु वह आज आया नहीं। पिता के साथ गया था महारानी के प्रासाद में। उसने भले प्रकार भोजन भी तो नहीं किया था, न मा !"

रागिनी जब अपने पुत्र का उल्लेख करती, तब महाराजिन दब जाती थी, और उसके मातृहृदय की करुणा पूर्ण रूप से जाग उठती थी। उसे दसवंत की वह भयंकर भूल याद आती। वह पछताती, और अपने को धिक्कारती—"तूने ही क्यों ले जाने दिया वह शिशु। उसकी मा बेहोश थी, तो क्या, तू तो जाग ही रही थी। छीन लेती शिशु को।" महाराजिन की सारी समवेदना रागिनी की ओर हो जाती, और वह चुपचाप होनहार की प्रबलता के सम्मुख स्वयं भी रोने लगती।

महाराजिन को चुप देखकर फिर कहा रागिनी ने—"हो न तुम मेरी मा ?"

उतनी ममता-भरी वाणी की अवहेलना कर न सकी महाराजिन, बोली—"हाँ, हूँ।"

"तब इतने दिन तक कहाँ थीं तुम ?"

"यहीं तो हूँ।"

"यहाँ यदि होतीं, तो क्या कोई छीनकर बहा देता मेरा पुत्र ! सुनती हूँ, तालाब में डुबा दिया उसे। मैं उस तालाब में छेदकर उसका पानी सुखा डालूँगी।"

"तुम्हारा बेटा सुरक्षित है। सम्राट् स्वयं उसका पालन-पोषण कर रहे हैं। बड़े सुख से है वह शिशु-गृह में।"

"कहाँ है यह शिशु-गृह ?"

"ताल के किनारे।"

"ताल के किनारे !" रागिनी ने हाथ का बरतन भूमि पर फेक दिया। वह उठ खड़ी हुई, और रोते हुए बोली—"यह तो फिर वही बात आई। क्यों डुबा दिया ? उस अबोध शिशु ने क्या किया ? अपराधिनी तो मैं हूँ !" रागिनी रोती हुई इधर-उधर दौड़ने लगी।

महाराजिन ने उसे पकड़कर स्थिर किया—"अधीर न होओ। भगवान् चाहेंगे, तो तुम्हारा पुत्र तुम्हें शीघ्र मिलेगा।"

"मिलेगा ! वह मुझे मा कहेगा न ?"

"क्यों न कहेगा ?"

"अब वह बहुत बड़ा हो गया होगा न। पहचान लेगा मुझे? यदि न पहचान सके, तो तुम बता देना।"

महाराजिन बरतनों को सँभाल रही थी। उसी की ओर था उसका ध्यान, पर वह कुछ बोली नहीं।

इसे उपेक्षा समझ रागिनी रुष्ट होने लगी। उच्च स्वर में फिर बोली महाराजिन के हाथ पकड़कर—"बता दोगी न?"

करुणा में नहाई हुई हँसी के साथ महाराजिन ने कहा—"हाँ, बता दूँगी, कह तो रही हूँ।"

रागिनी अपने कमरे में चली गई। पहले रोई—"तू मेरे हृदय ही में है। काल और मनुष्य, इनमें से कोई भी तुझे मुझसे बिलग नहीं कर सकता। मैं मूढ़ हूँ, जो तुझे बाहर प्रकाश में ढूँढ़ रही हूँ। लेकिन दुष्ट, तू मन से निकलकर भी न-जाने कहाँ चला जाता है। वे लड़के बड़े झगड़ालू हैं। सौ बार मैंने तुझसे कह दिया है, उनके साथ खेलने न जा। वे पत्थर, धूल और लकड़ियों से खेलते हैं। यदि कहीं तेरी आँख में लग गई, तो फिर मैं क्या करूँगी!" फिर कुछ याद आई, गाने लगी—

"बिनु गोपाल बैरन भईं कुंजैं।
तब वे लता लगति अति सीतल,
अब भईं बिसम ज्वाल की पुंजैं।
ज्वाल की पुंजैं, बिनु गोपाल,
बिनु गोपाल बैरन भईं कुंजैं।"

गीत बंद कर बोली—"हाँ, गोपाल चला गया है, और मेरा यह एकांत विषमय हो उठा है !"

महाराजिन रसोईघर की चीज़ों को यथास्थान रख रही थी। रागिनी का गीत सुनकर उधर चली गई।

रागिनी गा रही थी—

"बृथा बहति जमुना, खग बोलत,
बृथा कमल फूलैं, अलि गुंजैं।
बिनु गोपाल बैरन भईं कुंजैं।"

महाराजिन मुग्ध होकर सुनने लगी। रागिनी का सरस कंठ उसे मानो खींच लेता है।

गीत बंद कर रागिनी महाराजिन से कहने लगी—"और मा ! बृथा ही तुमने भोजन बनाया है। मेरा गोपाल मेरी गोद में नहीं है, मैं खाना न खाऊँगी। तुम फिर मेरा गीत सुनने आ गई हो, रोटी जल रही होगी, तो—? न गाऊँगी अब।"

महाराजिन ने अभ्यर्थना की—"बड़ा मधुर प्रतीत हो रहा है। गा दो, बेटी !"

"बेटी !" बड़े उच्च स्वर से संशय की हँसी के साथ रागिनी ने दुहराया—"बेटी !"

कुछ निस्तेज होकर महाराजिन ने कहा—"हाँ, मैं तुम्हारी मा हूँ न ?"

"हो, तब सुनाऊँगी तुम्हें। सूरदासजी के श्रीमुख से ही

सुना था मैंने यह गीत। तानसेनजी ने तो भारतीय संगीत की आत्मा को चोट पहुँचाई है।"

"तुम फिर इधर-उधर की बातें करने लगीं?"

"हाँ-हाँ, गाती हूँ। विना रोए और गाए यह पीड़ा भी तो नहीं बुझती।" वह गाने लगी—

'पवन, सलिल, घनसार, सँजीवनि,
दधिसुत-किरन भानु भर भुंजैं।
बिनु गोपाल बैरन भइँ कुंजैं।"

फिर गीत बंद कर दिया उसने—"दधिसुत चंद्रमा को कहते हैं—उदधि-सुत। और, मेरा दूध का शिशु ताल के किनारे रहता है। क्यों मा, ठीक है न? एक दिन चलकर मुझे दूर ही से उसका मुख तो दिखा दो।"

"दिखाऊँगी, अवश्य दिखाऊँगी। अभी गीत और भी शेष है।"

"हाँ।" रागिनी फिर गाने लगी—

"ऊधव, जाइ कहो माधो सों,
बिरह करद मारत करि लुंजैं।
बिनु गोपाल बैरन भइँ कुंजैं।
'सूरदास' प्रभु को मग जोवत,
अँखियाँ अरुन भइँ ज्यों गुंजैं।"

गीत समाप्त किया उसने—"और, मेरी आँखें फूट

जायँगी। फूट जाने दो उन्हें। मैं अपने गोपाल को स्पर्श से पहचान लूँगी।"

सूर्य अस्ताचल के निकट पहुँच गए। दसवंत ने अपना दिन का काम समाप्त किया, और घर की ओर चला।

महाराजिन ने द्वार खोलते ही पूछा—"क्यों, आज मुख पर विशेष उदासी है? स्वास्थ्य कैसा है?"

"ठीक है।"

"फिर?"

"सम्राट् शीघ्र ही वापस आ रहे हैं काबुल से। उन्होंने वहाँ भाई पर विजय पाई। उसका राज्य लौटाकर वह भारत आ रहे हैं।"

"तब चिंता की क्या बात है? यह तो भारत की प्रजा के लिये भी सुसमाचार है। उन दिनों लोग कैसी अफ़वाह उड़ा रहे थे। कोई कहता था, काबुल से एक लाख अश्वारोही आ रहे हैं, राजधानी लूटने के लिये। मैं तो सो भी न सकी रात को उन दिनों।"

"वह जो काम बता गए थे, वह पूरा नहीं हुआ। जो कुछ पूरा भी हुआ है, वह संतोष-जनक नहीं।"

"अभी आते-आते उन्हें अनेक दिन लग जायँगे। पूरा कर लो।"

"कहाँ से? मन में अनेक चिंताएँ भर गई हैं।"

रागिनी गा रही थी, धीरे-धीरे—

"सो जाओ, हे प्राणों के प्रण !
खिंचा दिशा में निशा-आवरण।
थल में पशु, नर ; जल में मछली,
शाखाओं में भौंरा तितली,
कुसुम-कली, पत्ती की अवली,
सोए, सबने करवट बदली।
क्या भय ? जाग रही है जननी,
प्रहरी—राशि – राशि तारागण।
सो जाओ, हे प्राणों के प्रण !"

दसवंत का ध्यान उधर खिंच गया। एकाग्रता से कुछ सुनकर उसने कहा—"गा रही हैं !"

"हाँ, जिस दिन गाने की धुन हो गई, दिन-भर फिर गाती ही रहती हैं, रात तक। लोरी गाकर सुला रही हैं।"

दसवंत ने घबराकर पूछा—"किसे ?"

"परसों मैंने एक नई अँगिया पहनाई थी। सारी फाड़ डाली। उसी को सीकर एक गुड़िया बनाई है, उसी को छाती से लगाकर सुला रही होंगी।" महाराजिन ने दया-मिश्रित वाणी में कहा।

"हे भगवान् !" दसवंत ने सिर पीटते हुए कहा।

"ला ही नहीं सके हैं आप कोई बालक।"

दोनो रागिनी के कक्ष की ओर गए।

कोमल थपकियाँ देकर रागिनी सुला रही थी—

"अंधकार में धरती खोई,
काया पड़ी, कामना सोई।
निश्चल-नीरव हैं सब कोई,
एक अकेली मैं ही रोई।
अश्रुबिंदु से गिन-गिनकर क्षण,
पकड़े हुए काल का विष-फण।
सो जाओ, हे प्राणों के प्रण !"

"एक कल्पना है जगत्, महाराजिन !" दसवंत ने कहा—"मैं समझकर भी नहीं समझा। इस समय रागिनी की छाती से लगी हुई यह कपड़े की गुड़िया हमारे-तुम्हारे लिये गुड़िया है, उसके लिये एक जीवित सत्य। जब तक वह उस कल्पना में सत्य समझती है, तभी तक; उसमें भेद आ जाने से ही उसके दुख का आरंभ हो जाता है।"

रागिनी को उनके आ जाने से कोई बाधा नहीं पहुँची, वह तन्मय थी—

"चंद्रकांति के निर्मित तन तुम,
आशाओं के केंद्र-सदन तुम।
कमल-नयन हो, दीप्ति-हसन तुम,
मेरे जग, मेरे जीवन तुम।
मैं घन, तुम हो उज्ज्वल तारक,
मैं तम हूँ, तुम ज्योति की किरण।
सो जाओ, हे प्राणों के प्रण।'

दसवंत ने धीरे-धीरे कहा—"हम लौट चलें। इनको यह जागृति का स्वप्न देखने दें।"

दोनो चुपचाप जाने लगे।

"तुम क्यों जाने लगे?" रागिनी ने पूछा।

"तुम्हारे बालक की नींद में बाधा पड़ेगी, इस भय से।" दसवंत ने कहा।

"वह सो गया है अब।"

दसवंत रागिनी के निकट जाकर एक आसन पर बैठ गया।

महाराजिन दीपक जलाकर लाने गई।

"क्या कहती हो रागिनी! चुप क्यों हो गई?" दसवंत ने कहा।

"तुम सुन ही नहीं रहे। सुनकर भी समझ नहीं रहे हो। न-जाने कितने जन्मों से, कितनी भाषाओं में तुमसे कह रही हूँ।"

"क्या कह रही हो?"

"तुम नारी का प्रेम नहीं समझे। तुमने उसे चित्र बनाने की एक उद्दीप्ति समझा। केवल रूप और यौवन! पशु-पिपासा और मूढ़ अतृप्ति! नारी का क्या यही प्रेम है कला-कार!"

दसवंत अवसन्न बैठा था।

रागिनी अविराम प्रवाह से कह रही थी—"नारी के प्रेम का सबसे अभिराम रूप है वात्सल्य। यौवन के मेघों के

निकल जाने पर जैसे वसुंधरा शारद श्री से शोभित होती है, ऐसे ही नारी की कांति खिल उठती है। रूप के पुष्प में मानो विसर्जन का फल लग जाता है ! मैं पागल नहीं हूँ।"

"नहीं हो रागिनी !"

"पहले कुछ दिन ?"

"नहीं, कभी नहीं।"

"फिर क्यों कभी-कभी ऐसा ज्ञात होता है, मैं मार्ग भूल जाती हूँ, और न-जाने कहाँ भटक जाती हूँ। तुम मेरी ओट में हो जाते हो। तुम्हारा हास्य-रुदन, छंद-गीत, आकांक्षा-अतृप्ति, सुख-दुख, संशय-भय कुछ भी नहीं पहुँच पाता वहाँ तक। मैं खोजती ही रह जाती हूँ।"

महाराजिन दीपक ले आई। उसे दीपाधार पर रक्खा उसने।

रागिनी ने अचानक शय्या की ओर देखा। दौड़कर जा पहुँची वहाँ, और उस कपड़े-से बालक को थपकियाँ देकर फिर सुलाने लगी—"सो जा, हाबू आया है, पकड़ ले जायगा।"

दसवंत के निकट आकर धीरे-धीरे महाराजिन ने कहा—"एक भूल हो गई है आज मुझसे।"

"कौन-सी ?" गंभीर होकर चित्रकार ने पूछा।

"बातों-ही-बातों में मेरे मुख से सच-सच निकल पड़ा।"

"क्या कह दिया ?"

"उस बालक के संबंध में कि वह सम्राट् के शिशु-गृह में है।"

"कोई हानि नहीं। मैंने भी एक दिन इनसे कह दिया था।"

"वह बात इनके मन में गड़ जैसी गई है। कई बार द्वार तक जाकर शृंखल खोलने लगीं। कहती थीं, मुझे वहीं शिशु-गृह में ले चल।"

"एक क्षण के लिये भी वहाँ का ताला खुला न छोड़ना।"

काबुल-विजय के उल्लास में भरे हुए सम्राट् दल-बल-सहित राजधानी में आकर सुशोभित हो गए। उनका भाई काबुल छोड़कर भाग गया था, जब सम्राट् वहाँ पहुँचे। वह चाहते, तो उस भूमि-भाग को अपने राज्य में मिला लेते। उन्होंने उसे अन्याय समझा। फिर भाई को क्षमा करने का निश्चय किया। उसका समस्त राज्य उसे लौटा दिया, और फिर कभी भारतवर्ष की ओर सेना न भेजने की प्रतिज्ञा करा ली उससे।

राजधानी में आने के बाद सबसे पहला काम सम्राट् ने शिशु-गृह का निरीक्षण निश्चित किया। दस महीने के पश्चात् आज वह सीकरी में लौटे थे। उस युद्ध की यात्रा में सम्राट् कभी शिशु-गृह को नहीं भूले।

इस युद्ध-यात्रा में रात को तंबू में पड़े-पड़े अकबर नित्य नई प्रकृति में सीकरी के शिशु-गृह का ध्यान करता—"किस प्रकार धीरे-धीरे शिशु बड़े होकर चलने लगेंगे। उनके अधरों पर अक्षर फूट निकलेंगे—फिर शब्द और फिर भाषा—मनुष्य की स्वाभाविक भाषा।" वह प्रत्येक संशय को कुचल-

कर बढ़ने न देता, और मानवी भाषा का उद्भव एक उज्ज्वल सत्य समझता—"शिशुओं के हृदयों में फिर भाव उत्पन्न होंगे। वे दौड़कर पहले अपने कमरे और फिर समस्त शिशु-गृह से अपना संपर्क बढाएँगे। उनके भाव व्यक्त होने के लिये आकुल होंगे। उसका परिणाम होगा—मानवी भाषा।" वह सोचता—"प्राय: एक वर्ष हो गया—इस अंतर में शिशु बालक हो गए होंगे—लगभग उनका तीसरा वर्ष समाप्त होने को होगा। अब वे दौड़ते होंगे, और खूब बोलते होंगे।"

अवकाश के पहले ही क्षण में अकबर शिशु-गृह में जा पहुँचा। फ़ैज़ी को शिशु-गृह छोड़ने की आज्ञा न थी। इसलिये सम्राट् की अभी भेंट हुई उससे। अभिवादन और कुशल-प्रश्न में देर नहीं लगाई गई।

सम्राट् ने पूछा—"कवि! शिशु सब ठीक हैं?"

"हाँ, महाराज, कुछ बीमार पड़ गए थे पिछले दिनों। अब सब स्वस्थ हैं।"

"अब तो उन्होंने पर्याप्त शारीरिक और मानसिक उन्नति कर ली होगी?"

"हाँ महाराज! निरीक्षण करने की कृपा कीजिए।" फ़ैज़ी सम्राट् को झरोखों के निकट ले गया।

सम्राट् ने पहले झरोखे के भीतर झाँका—"तुम इनकी भाषा के विकास पर ध्यान दे रहे हो न?"

"हाँ महाराज, कुछ नियम ढूँढ़ निकाले हैं मैंने। लिख रक्खे हैं।" फ़ैज़ी पुस्तक ले आने के लिये जाने लगा।

"अभी रहने दो, फिर देखूँगा। स्वाभाविक भाषा की सृष्टि इनके बीच में हो जायगी। इसमें तो संदेह कुछ है ही नहीं। यदि अभी से उस भाषा के क्रमिक विकास पर ध्यान न दिया जायगा, तो हमें उसका भेद मालूम करने में फिर बड़ी कठिनाई पड़ेगी। तुम पहले दुभाषिए बनोगे इस शिशु-गृह के।"

गर्व से कवि ने मस्तक ऊँचा किया।

सम्राट् ने पहले कमरे में देखा, कई बालक खेल रहे थे। उनके शब्दों पर ध्यान दिया। 'मम्मम, पप्पप, तत्तत, दद्दद' इसी प्रकार के थे। कोई दौड़ रहा था, कोई हँस रहा था, कोई रो रहा था। सम्राट् ने कहा—"अब इनके कमरों के द्वार मुक्त रक्खे जाते हैं न?"

"हाँ, महाराज!"

"धायों को उनके बीच में केवल भोजन रखने और सफ़ाई के ही लिये जाने देते हो न?"

"हाँ। खेल-खिलौने दिए जायँ इन्हें?"

"नहीं, मनुष्य-निर्मित कुछ न दिखाओ इन्हें। अब इन्हें भोजन भी स्वयं ही करने दो। कुछ फेकेंगे, कुछ खायँगे। धीरे-धीरे सीख जायँगे। इन सबके व्यवहार की वस्तुएँ सब एक-सी हों।"

"ऐसा ही किया जा रहा है महाराज !"

"आदि-शिशु, इन्हें पहचान लिया मैंने। यही नेता जान पड़ रहे हैं। अपने कमरे के ही नहीं, समस्त शिशु-गृह के, बड़े चपल हैं। तमाम कमरों को दौड़कर एक कर रहे हैं। यह क्या, अभी इन्होंने शय्या की चादर खींच ली।"

"सबसे चपल हैं यह महाराज ! समझ के भी बहुत तेज।"

"चादर ओढ़ ली है इन्होंने। मुँह ढककर दौड़ने लगे। ये सब बालक इन्हीं के पीछे दौड़ रहे हैं। कुछ कह रहे हैं यह—मम्पप, मम्पप !"

"अक्सर यह ऐसा करते हैं।"

"क्या अर्थ लगाया तुमने इस बात का ?"

"और कुछ नहीं, यह धायों का अभिनय है महाराज ! जीवन में भोजन की आकांक्षा सबसे प्रबल है। धाय इन्हें भोजन कराती हैं—वे ही सबसे प्रिय हैं। उनका अभाव इन्हें खटकता है, और ऐसे अभिनय से ये उसकी कल्पना कर सुखी होते हैं।"

"ठीक है कवि !"

"मुख के भागों में भगवान् ने शिशु के अधरों को ही सबसे पहले अधिक गति दी है कि वह दूध चूसे। महाराज, उसी अधर पर सबसे पहले उच्चारण फूटा !"

अकबर प्रसन्न हो उठा—"कैसा उच्चारण ?"

"संस्कृत की वर्णमाला मुझे सबसे अधिक स्वाभाविक ज्ञात होती है। उसका पवर्ग महाराज, 'प, फ, ब, भ, म,' मैं समझता हूँ—अधिकांश शिशुओं ने सबसे पहले इन्हीं अक्षरों को सीखा। सबसे पहले इन्होंने शब्द बनाए पप, बब, मम। भोजन और भोजन देनेवाले की संज्ञाएँ इन्होंने इन्हीं अक्षरों से बनाईं।"

"तुम्हारी विकसित कल्पना के कारण ही तुम शिशु-गृह के अधिनायक बनाए गए कवि!"

"माता का शब्द लीजिए महाराज! संस्कृत में मातृ है, हमारी भाषा में मादर। गोआ के पादरियों से मैंने पुछवाया था, उन्होंने बताया कि योरप की तमाम भाषाओं में माता के लिये जो शब्द हैं, वे संस्कृत के मातृ-मातर के ही रूप हैं। कहीं मतर, कहीं मदर और कहीं मडर।"

"सच है, यही मेरी मानवी भाषा का अर्थ है। थी, पहले सारी मानव-भाषा एक ही थी। वह खो गई फ़ैज़ी! और हम सब एक पिता की संतान टुकड़े-टुकड़े होकर धरती पर फैल गए—धर्म और संप्रदायों के भेदों में विभक्त होकर। हम एक दूसरे की संस्कृति के द्रोही हो गए। उसके धर्म से द्वेष करने लगे। मनुष्य को मनुष्य के रक्त की तृष्णा हो गई! क्या यह सारा भारत एक न हो जायगा फ़ैज़ी?"

"होगा महाराज! क्यों न होगा। एक दिन की बात है। सबसे पहले मुख ढककर रहस्य की कल्पना आदि-शिशु ने

ही फैलाई इस गृह में। धाय सुला रही थी इन्हें एक दिन। यह सोना न चाहते थे, अचानक इन्हें क्या सूझी, यह धाय के मुख पर का बुरक़ा खींचने लगे, और मचल गए।"

"मनुष्य के भीतर यह रहस्य जानने की प्रबल आकांक्षा है। इसी भाव के आधार पर संसार के तमाम धर्मों का जन्म हुआ है। अप्रकट को प्रकट करने की इच्छा! यह जो हमारा लालन-पालन कर रही है, उसे जानने की उत्सुकता—ऋण-शोध के लिये, क्यों कवि! वह भगवान् क्या हमारी पालना नहीं कर रहा है? हम भी क्या उसको पहचानने के लिये कभी श्रम करते हैं? हाँ, फिर क्या हुआ?"

"धाय ने बुरक़ा सावधानी से पकड़ रक्खा था। और भी अनेक शिशु आ गए। वे भी आदि-शिशु को उनके प्रयास में सहायता देने लगे। धाय और भी सतर्क हो गई।"

"अनुकरण की वृत्ति बालकों में बहुत अधिक होती है।"

"उस दिन से सब धायों के लिये एक नई आफ़त पैदा हो गई। प्रायः सभी शिशु तमाम धायों का बुरक़ा उलटने का प्रयास करने लगे।"

अकबर ने हँसकर कहा—"मैं समझता हूँ, अब शिशुओं को बिलकुल अकेले ही छोड़ देना चाहिए। धायों को उनके समीप अब न जाना चाहिए।"

"काम चल जायगा। वे रोवेंगे तो नहीं। द्वारों का एक

जोड़ा छत पर से खुलता बद होता है। भोजन वहाँ से रख दिया जायगा। सफाई का क्या होगा ?"

"शिशुओं को अलग शौच करने की आदत डाल दी गई होगी न ? मैं काबुल जाते समय फिर इस बात पर जोर दे गया था।"

"केवल दुख-पीड़ा के अपवाद को छोड़कर समस्त शिशुओं के स्वभाव मे यह बात प्रविष्ट हो गई है। किसी के बीमार पड़ने पर क्या होगा ?"

"विवशता। उस समय जाना पड़ेगा धायों को बहुत लुक-छिपकर।"

"शिशुओं के नहाने-धोने, कपड़े-बिस्तर बदलने के लिये ?"

"उसके लिये भी जाना ही पड़ेगा।"

दूसरे कमरे मे एक बालक दौड़ते-दौड़ते गिर गया था, बड़े जोर से रोने लगा। अकबर ने उसके भीतर झाँका, धाय ने आकर उसे गोद मे उठा लिया।

"गिरने-पड़ने पर इन्हे चुप कराने की भी कोई आवश्यकता नहीं। इस सहारे से बालक की आत्मशक्ति दुर्बल होती है।"

"रात को धाय कहाँ सोवेंगी ?"

"कमरों के बाहर ही। प्रत्येक कमरे में आने-जाने के लिये दो मार्ग हैं। उनके द्वारों को बंद कर धाय द्वारों के निकट ही सो रहेगी। आज से ही अब इस आज्ञा का पालन हो।"

"अब कोई धाय बाहर आएगी, तो उसे सूचित किया जायगा महाराज ! वह शिशु-गृह के भीतर जाकर संकेत से सबको बुला लाएगी मेरे पास ।"

सम्राट् दौड़ते और खेलते हुए बालकों के साथ एक झरोखे से दूसरे को जा रहे थे। कुछ देर बाद वह बोले—"इन बालकों की क्रीड़ा भी दूसरे ही प्रकार की है ।"

"इस एकांत वातावरण के कारण ।"

"हाँ, एक तो इनमें अभाव की कल्पना नहीं । सबके समान वस्त्र, एक ही सी शय्याएँ, एक ही सा सामान, भोजन, स्थिति ।"

"कुछ लड़के दुर्बल हैं महाराज ! मैंने बड़ी चेष्टा की, धायों ने उनकी शारीरिकता सुधारने के लिये परिश्रम किया, विशेष फल नहीं मिला ।"

"वह जन्म के ग्रह हैं फ़ैज़ी ! किसी सीमा तक हमारे प्रयत्न वहाँ फलदायक हो सकते हैं। दूसरे, इनका मन मुक्त पथ में विकास पा रहा है। यहाँ इनको वारण करनेवाला शब्द नहीं। कोई इनकी गति में बाधक नहीं। हैं ! दौड़ो मत, भागो मत, वहाँ नहीं, ऐसा नहीं, वैसा नहीं आदि कहनेवाला कोई नहीं। इससे इनमें स्वाभाविक प्रवाह उत्पन्न हो रहा है। जब शिशु-गृह के द्वार अनावृत होकर ये जगत् में आएँगे, तो हमें मनुष्य की स्वाभाविकता का निर्देश करेंगे ।"

"हाँ महाराज, इनका आदर्श मनुष्य की कृत्रिमता को धो डालेगा।"

"मनुष्य की उन्नति का प्रबल निरोधक 'भय', उससे ये परिचित नहीं। शेर आया है उधर, भालू आया है, हाबू आया है, पकड़ ले जायगा आदि कहने को शब्द हैं, पर बालक के निर्मल और कोमल मानस में जो गहरी रेखाएँ ये खुरच देते हैं, वे जीवन-भर बनी रहती हैं। धाय अब वहाँ न रहें, आज ही इसका प्रबंध हो।"

"फ़ैज़ी ने बाहर की एक दासी को बुलाकर कहा—"शिशु-गृह के भीतर से जो भी धाय बाहर आए, उसे मेरे पास भेज देना।"

दासी आज्ञा लेकर चली गई।

सम्राट् ने कहा—"काबुल से निश्चिंत होकर जब मैं इस बार लौटा हूँ, तब मैंने मानवी धर्म का सारा स्वरूप स्थिर कर लिया है। मैंने उस धर्म का नाम रक्खा है दैवी धर्म। मैं शीघ्र ही अब उस धर्म की घोषणा करूँगा। उससे पहले बहुत जल्दी मैं अपने अंतरंग मित्रों की सभा करूँगा, उपासना-गृह में नहीं, वहाँ हुल्लड़ रहता है, अपने शयन-कक्ष में। रात को शिशुओं के सो जाने पर तो तुम्हें अवकाश रहता है न?"

"हाँ महाराज!"

"तुम भी उस अंतरंग सभा के विशेष अंग हो। तुम्हारी

उपस्थिति वहाँ आवश्यक है। यहाँ किसी उपयुक्त मनुष्य की नियुक्ति कर तुम भी आओगे वहाँ।"

"जैसी आज्ञा हो।"

"चलो, तुम्हारे पुस्तकालय चलूँगा मैं। पढ़कर सुनाओ, क्या लिखा है तुमने। शिशुओं के अध्ययन में क्या विशेषताएँ अंकित की हैं तुमने? इस उद्योन्मुख मानवी भाषा के आदि सूत्र क्या ढूँढ़ निकाले हैं तुमने?"

उनके जाने से पहले धाय आ गई। फ़ैज़ी ने उसे सम्राट् की आज्ञा सुना दी।

धाय बोली—"फिर हम कहाँ रहेंगी?"

"एक एक प्रवेश पर, दूसरी दूसरे पर, द्वार बंद कर बाहर से भी भीतर का ध्यान रखना।"

दस

हो गया तुम्हें ?" अकबर ने दसवंत के कार्य का निरीक्षण कर कहा—"तुम्हारी कला बराबर गिरती जा रही है। उसे तो और भी स्पष्ट और स्वाभाविक हो जाना चाहिए था अब तक। क्या कारण है ?"

"स्वास्थ्य ठीक नहीं।"

"कलाकार के लिये सर्वथा अशोभन वाक्य दसवंत ! मन के विकृत हो जाने पर ही तो शरीर में रोग घुस जाते हैं।"

"ऋतु के चढ़ाव-उतार के सामने मन क्या करे महाराज ! और यह मिट्टी का पुतला ऋतु की विषमता के आगे विनत-मस्तक है।"

"तुम्हारे अधरों पर यह उदासी और विवशता के स्वर आज ही सुन रहा हूँ दसवंत ! पहले तुम्हारे विचार कुछ दूसरे थे। तुम गिर पड़े हो चित्रकार, तुम्हें पता ही नहीं। मैंने तुम्हें सूर्य की उपासना करने को कहा था।"

"मैं करता तो हूँ।"

"विधि-पूर्वक पं० बीरबल से सीखने को कहा था।"

"बीरबल चित्रकार नहीं हैं।"

"यह अहंकार है तुम्हारा, इसे दूर करो। केवल चित्रकार ही के पास रहस्य की कुंजियाँ नहीं हैं। अच्छा, मुझसे सीखोगे? मुझे एक दैवी धर्म की प्रेरणा हुई है, उसकी दीक्षा लोगे?"

"नहीं, महाराज!" निडर होकर दसवंत ने स्पष्ट कहा।

"क्यों?"

"अपनी रुचि और श्रद्धा। महाराज के प्रभाव से यदि मैं चाटुकारी के लिये उसमें भरती हो जाऊँगा, तो उससे न मेरा भला होगा, न उस धर्म का।"

"हाँ, मैं भी बल-पूर्वक किसी के ऊपर उस धर्म को नहीं लादना चाहता। पर तुम्हारी ही भलाई के लिये कह रहा हूँ, क्या हो गया तुम्हें? कैसा वेश बना रक्खा है? सिर और मुँह के बालों की क्या दशा है? वस्त्र और परिधान कैसा छिन्न और मलिन, अस्त-व्यस्त! क्या यही कलाकार की हुलिया है? फिर जागो चित्रकार! तुमने एक समय बहुत अच्छी उन्नति की थी। तब हमारे विचारों में साम्य था। फिर चेष्टा करो, अभी समय है।"

बाणों की भाँति दसवंत के प्राणों में चुभ गई सम्राट् की वाक्यावली। संध्या हो रही थी, वह अपने काम से छुट्टी पाकर घर चला।

मार्ग में न-जाने क्या सूझी उसे। घर का पथ छोड़कर वह लाल द्वार से होकर सीकरी की दीवार के बाहर चला गया—नगर के कोलाहल से दूर कुछ देर अपने भ्रांत मन को रखने के लिये। न-जाने क्या सोचा-विचारा उसने! अँधेरा होने पर लौट चला घर को। आगरा-द्वार से जब वह नगर में प्रविष्ट हुआ, तो कुछ दूर पर एक चार वर्ष का बालक रोते हुए मिला उसे।

दसवंत ने पूछा उससे—"क्यों रोते हो?"

"ऊँ-ऊँ-ऊँ, अम्मा के पास जाऊँगा।" बालक बोला।

दसवंत ने चारों ओर देखा। सड़क सूनी थी, केवल दूर पर कुछ मनुष्य जा रहे थे। चित्रकार ने एक ही क्षण में बहुत बड़ी कल्पना कर डाली। बड़े प्रेम से पुचकारकर उसने बालक को गोद में उठा लिया—"मैं पहुँचा दूँगा तुम्हें अम्मा के पास।"

भरोसा पाकर बालक चुप हो गया, दसवंत की गोद में।

दसवंत पहचानता न था उसे। न उसने उससे पूछा ही कि तुम्हारा घर कहाँ है। बहुत दिनों की एक आशा की पूर्ति ने उसे रोमांचित कर दिया। वह सारी सुध-बुध गँवा बैठा। वह देख ही न सका कि भगवान् के सिवा भी कोई उसे देख रहा है।

लोगों की दृष्टि बचाता हुआ दसवंत द्रुत पदों से अपने घर की ओर चला। मार्ग में उसकी जान-पहचान का कोई

आता देख न पड़ा। दसवंत ने बालक को अपनी चादर ओढ़ा दी थी। वह उसका मुख भी ढकने लगा। अँधेरा कुछ सघन हो चला था।

बालक ने प्रतिरोध कर रोते स्वर में कहा—"नहीं।"

उसका परिचित निकट आया। पूछा उसने—"किसका बालक लिए जा रहे हैं?"

कंपित वाणी में चित्रकार ने कहा—"एक पड़ोसी का।"

वह रुका नहीं फिर एक क्षण भी वहाँ पर।

कुछ ही पग आगे बढ़ा होगा कि अचानक पीछे से आवाज़ आई—"ठहरो, ठहरो!"

दसवंत ने पीछे की ओर देखा। दूर पर बढ़ते अंधकार के कारण और भी अस्पष्ट था वह। पर बड़ी तीव्र उसके पैरों की चाप उसके कानों में आई। दसवंत भी भागने लगा।

लेकिन दसवंत का अनुसरणकारी उससे कहीं अधिक तेज़ था। दसवंत की गोद में लड़का भी था और उसे दौड़ने की आदत भी न थी। इन सबसे ऊपर बच्चे ने वह पीछे से आती हुई आवाज़ पहचान ली थी। वह चिल्लाने लगा।

दसवंत के बीच की दूरी बराबर घटती जा रही थी। ईरानी सौदागरों के निवास से होकर वह जा रहा था। उसका घर थोड़ी ही दूर पर था। सौभाग्य-वश दूकानें प्रायः सब बंद हो गई थीं। दसवंत किसी गली-कूचे में घुस जाने को सोचने लगा, पर कोई दिखाई ही न दी। उसका हृदय काँपने लगा।

फिर पीछे से आवाज़ आई—"ठहर जा ! ठहर जा ! चोर ! चोर ! पकड़ लो ! पकड़ लो !"

एक गली आ गई। दसवंत बालक को लिए हुए उसके भीतर दौड़ गया। बालक और भी तीव्र स्वरों में रोने लगा। उसका रुदन अनुसरणकारी का पथ-प्रदर्शक हो गया। वह अब बहुत दूर न था।

यह भगदड़ और हो-हल्ला सुनकर एक ईरानी सौदागर दूकान के बाहर आ गया। गली के सिरे पर ही उसकी दूकान थी। दीपक जलाकर कुछ हिसाब मिला रहा था वह।

"पकड़ो ! पकड़ो ! चोर ! चोर !"

ईरानी सौदागर ने दौड़कर गली के अंधकार में दसवंत को धर दबाया, वह उसकी बाँह पकड़कर दूकान की ओर ले चला।

वह पीछा करनेवाला मनुष्य भी आ पहुँचा। आते ही उसने अपने लड़के को दसवंत से लेकर छाती से लगा लिया—"बच्चा मेरा ! छोड़ना नहीं इस चोट्टे को। अभी कोतवाल के पास ले चलूँगा मैं इसे।" कहकर उसने भी एक हाथ पकड़ लिया दसवंत का।

"तुम्हारा लड़का है यह ?"

"हाँ !"

"कहाँ से चुरा लाया ?"

"खेलते-खेलते बच्चा कुछ दूर चला गया था घर से। यह बहका लाया।"

दसवंत माथा नीचा किए चुपचाप प्रभा-हीन होकर उन दोनो से खिंचा हुआ चला जा रहा था। मनमें सोच रहा था, धरती फट जाती, और मैं उसमें समा जाता।

बालक पिता की गोद में आकर शांत हो गया था, पर अभी तक सिसक रहा था।

खींच-खाँचकर दसवंत दूकान में लाया गया। प्रकाश जैसे ही उसके मुख पर पड़ा, सौदागर ने चौंककर उसका हाथ छोड़ दिया।

लड़के के पिता ने पूछा—"क्यों?"

सौदागर ने कहा—"कौन, दसवंतजी?"

उस मनुष्य ने और भी दृढ़ता से दसवंत का हाथ पकड़कर कहा—"कोई भी हों यह दसवंतजी, मैं इन्हें बिना हवालात में बंद कराए न छोड़ूँगा। आप मेरे गवाह हैं।"

सौदागर बोला—"अरे, यह प्रसिद्ध चित्रकार दसवंतजी हैं। तुम नहीं पहचानते इन्हें। दरबार में इनकी बड़ी प्रतिष्ठा है। क्या तुम हाल ही में आए हो सीकरी में?"

"मैं इनकी सारी प्रतिष्ठा मिट्टी में मिला दूँगा।"

"ठहरो, धीरज रक्खो। बात तो सुन लेने दो। क्या काम करते हो तुम?"

"सम्राट् के घुड़सवारों में भरती हुआ था मैं काबुल की

चढ़ाई के समय। अपने बल, परिश्रम और सचाई के कारण मैं महाराज के शरीर-रक्षकों में नियुक्त हो गया था वहाँ। दिल्ली-द्वार के निकट रहता हूँ मैं। आज ही मैं गाँव से अपने स्त्री-पुत्र को लेकर यहाँ आया था। नगर देखा नहीं कभी मेरे बच्चे ने, कोई पहचानता नहीं अभी इसे मुहल्ले में, भटक गया। मैं न छोड़ूँगा इस बेईमान को।" सिपाही ने कहा।

सौदागर ने दाँतों-तले जीभ दबाकर कहा—"चुपो, चुपो। यह सम्राट् के कृपा-पात्रों में से हैं। इनकी प्रतिष्ठा के आगे कच्चे शब्द न निकालो मुख से।"

"ऐसे ही काम होते हैं प्रतिष्ठावानों के। आप ही के कारण चुप हूँ, नहीं तो मारते-मारते इन महोदय का भुरकुस निकाल देता। मेरा बच्चा!" कहकर उसने बालक को प्यार किया—"अभी तक सिसक रहा है!"

सौदागर बोला—"क्यों दसवंतजी! क्या बात है? आप चुप क्यों हैं?"

"कुछ नहीं!" आँखें तरेरकर देख रहा था दसवंत सिपाही को—"यह बालक मुझसे कहने लगा कि घर पहुँचा दो।"

"इधर ही है इसका घर?" सिपाही बोला।

"पर आप भागे क्यों?" सौदागर ने पूछा।

"मैंने इसे चोर समझा।" दसवंत बोला।

सिपाही आग-बबूला होकर कहने लगा—"मार डालूँगा

साले ! जान से, चाहे फिर फाँसी पर ही क्यों न लटक जाऊँ ।"

सौदागर ने फिर सिपाही से कहा—"शांति से काम लो। तुम्हें इस प्रकार गाली देने का कोई अधिकार नहीं । इनकी बात भी सही हो सकती है। मनुष्य ही तो हैं न यह, भ्रमित हो सकते हैं। फिर यह चित्रकार हैं। न-जाने किन मनसूबों में डूबे हुए आ रहे हों। क्या समझ में आया इनकी, कौन जान सकता है। एक प्रकार का फ़क़ीर ही समझो तुम इनको। राजमहल में चित्रकारी का अधिकांश इन्हीं की ही रचना है। गए हो कभी राजमहल के भीतर ?"

सिपाही कुछ शांत होने लगा था। बोला—"नहीं, कहाँ गया हूँ। लेकिन मैं इन्हें अवश्य ले जाऊँगा सम्राट् के पास। अभी।"

"फिर वही पागलपन !" सौदागर ने कहा।

"चल, चलता क्यों नहीं, अभी चल।" दसवंत ने कहा।

सौदागर ने सिपाही की पकड़ से दसवंत का हाथ छुड़ा दिया।

"लेकिन मैं सम्राट् के पास तक यह समाचार निश्चय ही पहुँचाऊँगा।" सिपाही बोला।

बालक कहने लगा—"घर चलो।"

सौदागर ने कहा -"जाओ, घर जाओ। लड़के की मा चिंतित होगी। देर हो गई।"

"ज़रा इनका मुँह देख लेने दो मुझे, अच्छी तरह पहचान लूँ," कहकर सिपाही ने दसवंत के मुख पर से सौदागर की छाया हटाई—"जिससे भूल न हो जाय।"

"कह तो रहा हूँ, राजधानी के इतने प्रसिद्ध मनुष्य को पहचानने की क्या आवश्यकता? इनका नाम दसवंत है, कौन नहीं जानता इन्हें!" सौदागर ने कहा।

"दसवंत, दसवंत, द—स—वंत।" सिपाही ने याद किया।

बच्चा मचल ही रहा था—"ऊँ-ऊँ, घर चलो न।"

"जाओ भाई, जाओ न। बच्चा भूखा होगा।" सौदागर ने कहा।

"तुम्हारे कहने से छोड़ दिया। पर सम्राट् से बिना कहे न रहूँगा। उन्हें मालूम होना चाहिए कि उनके दरबार में ऐसे भी लोग हैं।" कहकर सिपाही अपने बालक को लेकर चला गया।

सौदागर ने धीरे-धीरे दसवंत से पूछा—"क्या, बात क्या हो गई?"

"भूल हो गई!" कहकर दसवंत ने भी अपने घर का रास्ता लिया।

घर पहुँचते ही पूछा रागिनी ने—"क्यों, फिर लाए क्यों नहीं बालक? छीन ले गया बीच ही में वह, क्यों?"

दसवंत रागिनी का मुख ताकते ही रह गया। मन में सोचने·

लगा वह—"क्या कह रही हैं यह ? कैसे जान गईं ? क्या पागल की कल्पना इस प्रकार देश और काल को भी बेधकर जा सकती है ? नहीं, अचानक इनके मुँह से एक बात निकल गई, और वह संयोग से घटना से मिल गई।" फिर-भी दसवंत ने अपने मन का भ्रम मिटाने को पूछा—"कौन छीन ले गया, क्या ?"

—रागिनी ऊँचे स्वर से हँस पड़ी—"कुछ नहीं, ऐसे ही कह दिया था मैंने।"

दसवंत अपनी चित्रशाला में जाकर बैठ गया, गाल पर हाथ रक्खे, बड़ी उदास मुद्रा में।

महाराजिन ने पूछा—"क्यों, क्या सम्राट् ने कुछ कह दिया ?"

"नहीं तो।" दसवंत ने गाल पर से हाथ हटाकर प्रसन्न बनने की चेष्टा कर कहा। उसने सिपाही द्वारा किए गए अपमान की बात छिपा दी।

महाराजिन रसोईघर में चली गई। दसवंत एक तकिए के सहारे लेट गया। उसने फिर कपोल पर अपना हाथ रख लिया।

बड़े धीर और लज्जा की चापों से रागिनी ने प्रवेश किया। बहुत गंभीर होकर उसने एक तूलिका, एक कोरा चित्र-फलक और रंग निकाले। एक चौकी पर उन्हें रखकर चुपचाप बैठ गई दसवंत के सम्मुख।

दसवंत चुपचाप पड़ा था। उसके मन में वही एक विचार चक्कर काट रहा था कि कल क्या होगा। वह सिपाही अवश्य ही सम्राट् के पास तक पहुँच जायगा, और उनसे इस घटना का वर्णन करेगा। क्या उत्तर है मेरे पास ? एक मलिन चादर को ढकने के लिये दूसरी मलिनता!

रागिनी तूलिका हाथ में लेकर बोली—"मुख पर अच्छे विचार लाओ चित्रकार ! मैं तुम्हें अंकित करूँगी आज। मान और अपमान, यह भी कोई बात हुई ! बुद्धिमान् मनुष्य इन दोनों में से किसी की भी चिंता नहीं करता। अच्छा, अब हिलना नहीं। मन में कोई अच्छा भाव लाओ। फूलों में खिली हुई वसंत-ऋतु को सोचो, और कामनाओं से भरा हुआ यौवन !"

दसवंत अपने मन में कहने लगा—"ऐसा ही पागल यदि मैं भी हो जाता, तो इस दुखों के जाल से छुटकारा पा जाता।"

"परंतु चित्रकार ! चित्रकार को वसुंधरा प्रतिवर्ष वसंत-मयी मिल जाती है, वसुंधरा को नहीं मिलता यौवनमय चित्रकार हर साल। इस बात को तुमने सोचा भी कभी ?"

"सोचा रागिनी !"

"मैं कहती हूँ, नहीं। यदि सोचा होता, तो चित्रकार, तुम मेरे धोके में न आते। विचार में ही शाश्वत रूप है। यदि वह रूप आँखों में न समाया, तो कला की उपासना

कहाँ हुई ! तुम्हीं ने एक दिन कहा था, यह रूप भौतिक आँखों के द्वारों को बंद करने से दिखाई देता है। अब कहाँ सूख गई तुम्हारी वह विचार-धारा ? अब तुम वैसी बातें करते ही नहीं। हिलो नहीं। मैं अंकित करने लगी हूँ तुम्हें।"

दसवंत स्थिर रहा। उस पगली की कल्पना को देखने के लिये।

तूलिका चलाने लगी थी वह। बोली—"मैं भी तो भ्रम में पड़ी थी। चित्रकला सीखने कहाँ आई तुम्हारे पास ! एक बहाना, केवल एक बहाना। तब तुम ऐसे अव्यवस्थित न थे। कैसी गड़बड़ा गई, यह चित्रशाला तुम्हारी ? मैं इसे सजाकर रखती थी, और सजाकर ही तुम्हें राजदरबार में भेजती थी। पर अब सब बातें न-जाने कहाँ चल दीं।"

दसवंत ने देखा, रागिनी का मन चित्र अंकित करने में लीन था। बोल रही थी, जैसे किसी मन के ऊपरी भाग से।

"कपाल में तुम्हारे तीन रेखाएँ पड़ गई हैं, थोड़े ही समय से। अच्छी नहीं दिखाई दे रही हैं। लेकिन मुझे ये चित्र में ठीक ऐसी ही बनानी पड़ेंगी। विश्वास और ज्ञान की रेखाएँ नहीं हैं ये। संशय और अंधकार की भरी। श्वेत और कालिमा का विवेक था तुम्हें। ठीक ही चल रहे थे तुम अपनी साधना में। न-जाने कहाँ पर ठोकर खाई। दे रहा था तुम्हारा हाथ मन का साथ, चल रही थी तूलिका कल्पना के

अनुसरण में। टूट गई न-जाने कहाँ पर कर्म और ज्ञान की संधि !"

"बातें न करो रागिनी !"

"अब क्या, बना चुकी चित्र। लो, देखो।" कहकर रागिनी ने चित्र दसवंत के सामने रख दिया।

"बड़ी सुंदर अनुरूपता ! मैं तो समझता था, तुम नहीं सीख सकीं चित्रकारी। तुमने यह बड़ी सुंदर गुरु-कल्पना की है।"

"संगीत और चित्रकारी, दोनों एक ही बात तो है। तुम्हीं ने एक दिन कहा था, नाद और बिंदु एक ही हैं दोनो।"

बड़े उत्साह से दसवंत उठ बैठा। उसने पुकारा—"महाराजिन ! महाराजिन !"

महाराजिन दौड़ती हुई आ पहुँची।

"देखो, कैसा सुदर चित्र अंकित किया है इन्होंने। बताओ, किसका चित्र है ?"

"यह तो आपका ही है। ऐसा जान पड़ता है, मानो अभी कुछ बोल पड़ेगा।" महाराजिन ने चित्र देखकर कहा।

"चित्र क्या, मैंने तुम्हें मूर्ति दी थी, किंतु तुमने उसे खो दिया। मुझे इन दीवारों के भीतर तुमने बंदी किया है, और उसे कारागार में डाल दिया है सम्राट् ने। इन दीवारों के छेद तुम्हें नहीं दिखाई दिए कलाकार ! मैंने हवा से भी सूक्ष्म अपना शरीर बना लिया। मैं इन दीवारों को छेदकर देख आई हूँ उसे।"

दसवंत की मानसिकता फिर वहीं पर आ गई—अपराध, अपमान, लांछना और दंड के जगत् में। वह विचारने लगा—"क्या उत्तर दूँगा सम्राट् को ?"

रागिनी एकाएक उठी, और दौड़ती हुई चली गई अपने कमरे में।

"मुझे इनका शांत उन्माद अब तीव्रता में बदलता दिखाई देने लगा है।" महाराजिन ने कहा।

दसवंत रागिनी के बनाए हुए चित्र को महान् विस्मय के साथ देख रहा था—"और, मेरी कुछ समझ ही में नहीं आ रहा है। इन्हें पगली कहूँ, तो कैसे ? क्या कोई पागल ऐसा चित्र बना सकता है ?"

"कब बनाया ?"

"अभी-अभी तो, देखते-ही-देखते। मैं समझा था, पागलपन सूझा है। मेरी ओर देखा भी नहीं। मानो मन के भीतर से ही सारा चित्र निकालकर पत्र पर रख दिया !

"मैं जाती हूँ रसोईघर में। कहीं वहाँ पहुँच जायँगी, तो फिर उस दिन की तरह आटे में राख सानकर रख देंगी।" महाराजिन ने जाते हुए कहा।

"मैं आज नहीं खाऊँगा कुछ भी।"

"क्यों ?" निराश होकर महाराजिन ने कहा।

"इच्छा नहीं है।"

रागिनी आ पहुँची, तड़ाक से बोली—"खाओगे कैसे नहीं,

खाना पड़ेगा।" महाराजिन को रसोईघर की ओर अग्रसर कर कहने लगी—"जाओ महाराजिन, भोजन तैयार कर दो। मुझे भी बड़ी भूख लगी है।"

महाराजिन चली गई।

रागिनी दसवंत के निकट बैठ गई—"आज कुछ उदास हो तुम! सब कुछ एक कल्पना ही तो है। उसे सच समझने ही से तो दुःखों का आरंभ होता है।"

दसवंत चुप रहा।

रागिनी ने दसवंत का हाथ झकझोरकर कहा—"क्यों, बोलते क्यों नहीं? बड़ा अद्भुत जगत् है वह। छाया और प्रकाश की केवल संज्ञा है वहाँ, इसी से वे व्यापते नहीं! तुम न चलोगे वहाँ?"

"चलूँगा रागिनी! इस जगत् से ऊब उठा हूँ मैं। ले चलोगी?"

"हाँ-हाँ, क्यों नहीं!"

"कब?"

"अभी, लो, हाथ पकड़ो मेरा।"

दसवंत ने उसका हाथ पकड़ लिया।

रागिनी बोली—"कहीं दूर थोड़े है वह, यहीं पर है। चलो, डरना नहीं। दृढ़ता से पकड़ लो हाथ। यदि छूट गया, तो फिर यहीं गिर पड़ोगे।" वह दसवंत का हाथ खींचकर ले चली, और रसोईघर में महाराजिन के पास ले जाकर बैठा

दिया उन्हें। "लो महाराजिन, खिलाओ इन्हें, खायँगे कैसे नहीं!"

सिपाही रात ही पहुँचा कोतवाल के पास। सारी घटना सुनाकर कहा—"मैं एक नहीं, अपनी बात की सच्चाई को पुष्ट करने के लिये बीस साक्षियाँ ला सकता हूँ।"

कोतवाल बोला – "अविश्वास की बात नहीं है।"

"अभी जाकर उसे पकड़िए। फिर वह रात-ही-रात में भाग जायगा।"

"कहाँ जा सकता है? बात एक ऐसी है। वह मनुष्य है सम्राट् के विशेष अनुग्रह-पात्रों में से। सम्राट् को विना सूचित किए ही उसका न्याय करने से उनका कोपभाजन होना पड़ेगा। तुम चिंता न करो, आज अब समय नहीं। मैं कल सुबह दरबार में जाकर महाराज को इस घटना से अवगत कराऊँगा। फिर वह जैसी आज्ञा देंगे।"

दूसरे दिन।

कोतवाल की बात सुनकर सम्राट् केवल हँस दिए।

कोतवाल का छोटा-सा मुँह हो गया। वह बोला—"महाराज! अगर इस घटना को आप यहीं पर छोड़ देंगे, तो न्याय कुंठित हो जायगा, और राज्य में अपराध की वृत्ति को प्रोत्साहन मिलेगा।"

"तुम नहीं जानते उसे। मैं जानता हूँ, वह मेरी विशेष कृपा का पात्र है।"

"तब उसका अपराध और भी भयंकर हो जाता है।"

"अपराध ! नहीं।"

"चोरी !"

"कदापि नहीं। वह चित्रकार है। वैसी ही लहर कुछ आ गई होगी। वह बालकों पर प्रेम रखता है।"

"वह उसे लेकर भागा महाराज, और बालक चिल्ला रहा था। ईरानी-सौदागरों का सारा मुहल्ला गवाह है। मैंने सुबह जाँच की वहाँ।"

"तुम्हीं सोचो, क्या करता वह उस बालक से ?"

"यह न कहिए। मैंने सुना है, वह काली की पूजा करता है। उसके आगे बलि देता उस बालक की महाराज ! आपने साधारण जीवों की हिंसा भी निषिद्ध ठहराई है।"

"मैं पूछूँगा उससे आज ही।"

संध्या-समय अचानक याद आई अकबर को। उसने दसवंत को एकांत में बुलाया।

दसवंत के हाथ-पैर काँप रहे थे, जब उसने कक्ष में प्रवेश किया। सम्राट् की तीक्ष्ण आँखों ने लक्ष्य किया उसे।

दसवंत हाथ जोड़कर खड़ा हो गया सम्राट् के आगे।

सम्राट् ने पूछा—"क्यों दसवंत !" उसके स्वर में कुछ ताड़ना थी।

दसवंत मस्तक नीचा कर भूमि को देखने लगा।

"तुम उस सिपाही के लड़के को क्यों चुरा ले गए ?"

"भूल हो गई महाराज ! क्षमा कीजिए।"

"तुम काली की पूजा करते हो ?"

"नहीं, महाराज।"

"फिर ?"

"नारी की पूजा करता था। न कर सका !"

"तुम मेरी सभा के प्रमुख मनुष्यों में से हो। तुम्हारे असंमत कार्यों से मुझे लांछन लगता है। जाओ।"

उसी प्रकार सिर नीचा कर दसवंत चला गया सीधे घर को। उसे मर्मांतक आघात पहुँचा। कदाचित् शारीरिक दंड पाकर उसका पाप धुल जाता। अकबर की क्षमा ने उसे आंतरिक त्रास पहुँचा दिया। मार्ग में सोचने लगा—"धीरे-धीरे यह समाचार नगर-भर में फैल गया होगा। राजसभा और राजधानी में अब कैसे मस्तक ऊँचा कर सकूँगा ! हे भगवान्, मृत्यु दे।" वह बस्ती छोड़कर, निर्जन मार्ग से घूमकर घर को चला।

रात हो चुकी थी, जब उसने घर पहुँचकर देखा, प्रवेश-द्वार बिलकुल खुला पड़ा है। इतना ही देखकर उसका सिर चकराने लगा। उसने देहली पर से ही पुकारा—"महाराजिन ! महाराजिन !"

कुछ उत्तर न मिला।

वह दौड़कर तमाम कमरों में ढूँढ़ आया। न महाराजिन, न रागिनी। दोनो में से किसी का पता न था। सारे घर में

अंधकार ! उसने दीपक जलाकर भी देखा—शून्यता ! केवल शून्यता !

वह शून्यता उसके मस्तिष्क में घर कर गई ! वह दौड़ता हुआ भागा बाहर को। उसने पुकारा—"रागिनी ! रागिनी !"

बारह-तेरह वर्ष से सुरक्षित उसका रहस्य, इस प्रकार अचानक ऐसे, सारी राजधानी पर फूट पड़ा। उसका मानस इस बात को सहन न कर सका। वह मुहल्ले-भर में चारों ओर दौड़ता हुआ पुकारने लगा—"रागिनी ! रागिनी !"

कहीं से उसे कुछ उत्तर नहीं मिला। लोगों ने समझा, कोई पागल है।

घर के आस-पास जब कहीं महाराजिन और रागिनी दोनो में से किसी का पता न लगा, तो दसवंत सीधा शिशु-गृह की ओर दौड़ गया। वह चिल्ला ही रहा था—"रागिनी ! रागिनी !" उस अनवरत पुकार से उसका गला पड़ गया।

संध्या हो जाने पर बड़ी देर तक महाराजिन ने दसवंत की प्रतीक्षा की, वह नहीं आया। दीपक जलाने की बेला टलती जा रही थी। घर में आग बुझ गई थी ! महाराजिन पड़ोस में कहीं से आग ले आने के लिये बाहर को चली। उसने जैसे ही बाहर जाने के लिये ताला और द्वार खोले, रागिनी बिजली के वेग से उसे धक्का देकर बाहर निकल गई !

महाराजिन के उठते-उठते रागिनी मार्ग में अदृश्य हो

गई ! महाराजिन भागी उसके पीछे। किसी ने बताया उसे—"इधर राजभवन की ओर गई है एक स्त्री अभी भागती हुई।" महाराजिन उधर ही दौड़ी।

बड़ी तीव्र गति से बढ़ चली रागिनी। महाराजिन बूढ़ी होने के कारण थक गई, हाँफने लगी। रुक जाती, फिर दौड़ती।

रागिनी महल का रास्ता पूछकर दौड़ी उधर ही। बहिर्द्वार पर एक स्त्री-प्रहरी ने रोक लिया उसे।

रागिनी पहचानती थी उसे। उसका हाथ पकड़कर बोली—"नहीं पहचाना मुझे ?"

"स्त्री-प्रहरी पहचान कर बोली—"अरे हाँ। कब आई ?"

"आज ही तो।" कहकर रागिनी आगे बढ़ गई।

पचीसी के प्रांगण में बड़ी चहल-पहल थी। कृत्रिम प्रकाश में मानो सूर्य ही चमक रहा था वहाँ। सम्राट् जीवित गोटों से पचीसी खेल रहे थे आज।

अचानक सम्राट् ने दूर सिरे पर के खाने में एक स्त्री को खड़ी देखकर कहा—"यह गोट किसकी है ?" वह कौड़ी फेंक चुके थे।

वह स्त्री बोली—"आप ही की गोट हूँ महाराज ! जिस घर में जाने की आज्ञा देंगे, चली जाऊँगी वहाँ।"

सम्राट् को उसे पहचानते देर न लगी। उन्होंने पुकारा—"कौन, कौन, हीरा !"

"हाँ महाराज, हीरा।"

"कहाँ थीं इतने दिन?"

"अपने पीहर महाराज!"

"तुम तो कहती थीं, मेरे कोई नहीं।"

"वे सब लौट आए महाराज!"

पर सम्राट् की समझ में अभी कुछ आया नहीं। खेल उसी समय बंद कर दिया गया। महाराज हीरा को लेकर महारानी जोधबाई के महल में गए। उसे जोधबाई के सामने कर बोले—"लो पहचानो, कौन है?"

"हीरा! कहाँ थीं तुम? कितना ढूँढ़ा हमने तुम्हें। कब आईं? बड़ी दुबली हो गईं।"

"हाँ, महारानी, ससुराल गई थी।"

"अभी तो तुमने कहा था पीहर!" महाराज बोले।

"तुम्हारा विवाह ही कहाँ हुआ था!" महारानी बोलीं।

"फिर वह बालक कहाँ से आया महारानीजी!"

"कौन बालक?"

"रो रहा होगा। मैं जाती हूँ।"

"इसका मस्तिष्क ख़राब हो गया जान पड़ता है। हीरा! तू कैसी बातें कर रही है पागलों की भाँति।" महाराज ने पूछा।

"पागल भी तो मनुष्य ही होते हैं महाराज! आपकी ही प्रजा हूँ, कहाँ जाऊँ फिर?" रागिनी ने कहा। रागिनी ही हीरा थी।

"मुझे इसकी आँखें देखकर डर लग रहा है, महाराज ! इसे कहीं अन्यत्र रखिए अभी ।" महारानी ने कहा ।

"और, मैं भी इस नए महल की अभ्यस्त नहीं हूँ ।" कहकर रागिनी दौड़कर भाग गई महल के बाहर उस अंधकार में न-जाने कहाँ ।

महाराजिन को किसी ने महल के भीतर जाने नहीं दिया । घर खुला पड़ा था । वह निराश होकर लौट गई । दसवंत इस अवधि में वहाँ आकर चला गया था ।

सारी रात महाराजिन ने द्वार पर ही काट दी । दसवंत और रागिनी, दोनो में से कोई भी वापस नहीं आए ।

दूसरे दिन महाराज के पास समाचार गया कि दसवंत पागल हो गया । महाराज ने उसके घर और तमाम राजधानी में उसकी खोज की, कुछ पता न चला । कुछ लोगों ने उसे ताल की ओर जाते हुए देखा था, अनुमान लगाया गया कि उसने ग्लानि के कारण आत्महत्या कर ली ।

ग्यारह

पासना-गृह की धर्म-सभा का उद्देश्य पूर्ण हो जाने से वह तोड़ दी गई। अकबर ने अपनी बुद्धि और प्रेरणा तथा सहकारियों के सहयोग से उस नए विश्वजनीन धर्म की रूप-रेखा निर्धारित कर दी। उसका नाम उसने रक्खा दैवी धर्म। हिंदू और मुसलमानों के अनेक धर्म-सूत्र, जैनी की अहिंसा, पारसियों की सूर्य और अग्नि की पूजा, ईसाइयों की क्षमा उस नवीन धर्म के मुख्य अंग थे।

फ़ैज़ीबंधु, बीरबल आदि सम्राट् के, अंतरंग मित्र-सेवक उस दैवी धर्म के प्रथम दीक्षितों में थे। मानसिंह ने स्पष्ट कह दिया था सम्राट् से—"महाराज, मैं हिंदू-धर्म को जानता हूँ, मुसलमानों के धर्म को भी। पर यह दैवी धर्म क्या चीज़ है, नहीं जानता।" दरबार में अनेक धन और अधिकार के लालची लोगों ने सम्राट् का अनुग्रह प्राप्त करने के लिये उस नए धर्म को स्वीकार किया।

उस दैवी धर्म के अनुयायी जब आपस में मिलते थे, तो "अल्लाहो अकबर!" कहकर वंदना करते थे। इसका प्रकट

अर्थ यही है—"भगवान् महान् है।" कुछ लोगों ने इसका अर्थ लगाया—"अकबर भगवान् है।"

दैवी धर्म के लिये सम्राट् ने निश्चय किया—विश्व-धर्म जनता के ऊपर बल-पूर्वक लाद देने की वस्तु नहीं। ऐसा करने से वह अधिक दिन चल भी न सकेगा। राज्य के प्रत्येक कर्मचारी को उसे मानने-न-मानने की स्वतंत्रता थी। वह बड़ी मंद गति से बढ़ रहा था। जनता ने उसके प्रति विश्वास नहीं बढ़ाया—उसका विरोध भी नहीं किया।

सम्राट् की आशा लगी हुई थी शिशु-गृह पर। उनको भरोसा था, मानवी भाषा की अवतारणा के विना इस धर्म की गति में तीव्रता नहीं आ सकती।

शिशु बोलने लग गए थे। लगभग चार वर्ष के हो गए थे। फ़ैज़ी के निरीक्षण की टिप्पणियाँ काव्य और इतिहास हो सकते थे, उस मानवी भाषा का व्याकरण नहीं। अकबर ने फ़ैज़ी से यथाशीघ्र उस भाषा को सर्व-साधारण के बुद्धिगम्य करने को कहा।

फ़ैज़ी अपने श्रम में विफल होने लगा। आज एक किसी विशेष संज्ञा या क्रिया के लिये किसी बालक के मुख से कोई विशेष शब्द वह सुनता, तो उसी दिन दूसरे बालक को उसी बात के लिये दूसरा शब्द प्रयोग करते सुनता, और दूसरे-तीसरे दिन उस पहले बालक को ही उस बात के लिये दूसरा

शब्द व्यवहार करते सुनता ! फ़ैज़ी हारकर सिर खुजाने लगा—"नहीं !"

प्राय: दूसरे-तीसरे दिन वह पगली, रागिनी कहें या हीरा, शिशु-गृह के समीप आती और बक-बक लगाती । फ़ैज़ी उससे भी ऊब उठा ।

एक दिन रागिनी की तानसेनजी से भेंट हो गई । वह बड़ी समवेदना से उसके पास खड़े हो उसे समझाने लगे—"हीरा, क्या दशा हो गई तुम्हारी !"

"अपनी दशा नहीं देखते तुम ! और क्या दुर्दशा कर दी तुमने भारतीय संगीत की ! भगवान् की स्तुति के लिये जो विमल धारा थी, तुमने उससे श्रीमानों के गुण गाकर उसे गँदला कर दिया !"

तानसेन ने रुद्ध कंठ से कहा—"रागिनी !"

"कहो, क्या झूठ कह रही हूँ ? पगली को किसी से क्या मतलब ? क्यों बोले वह असत्य ! छाती पर हाथ रखकर कहो, क्या तुमने दो रागों की अंग-हानि और दो को विनष्ट नहीं कर दिया ?"

आचार्य घबराकर पीछे हटे, और द्रुतगति से वहाँ से चल दिए ।

पगली शिशु-गृह की ओर ताल के किनारे के जंगल में न-जाने कहाँ रहती रात को, कोई नहीं जानता था । प्राय: नित्य ही वह राजधानी में आती । लोग उसकी बातों से

मनोरंजन करते। कभी उससे गाना गाने के लिये कहते। जब उसके मन में आती, वह गाती; नहीं तो संसार के किसी लालच के लिये भी नहीं।

खाने-पीने की उसे कोई चिंता न थी, विचार भी नहीं। सबका ही दिया हुआ, कच्चा-पक्का, मोटा-महीन, खाना वह खा लेती! थोड़ा खाती, अधिक पशु और पक्षियों को खिला देती। कभी कुछ अपने अंचल के छोर में बाँध लेती—भैरव के लिये।

एक दिन महाराजिन उसे खींच-खाँचकर घर ले गई। यद्यपि पगली के सुख-दुख, उज्ज्वल-मलिन, धूप-छाया, तृष्णा-तृप्ति के बीच की रेखा खो गई थी, तथापि महाराजिन मोह से अधीर थी। उसने चेष्टा की, रागिनी उस घर में रहे।

पगली बहुत रोई वहाँ जाकर, कहने लगी—"वह कहाँ है? वह दसवंत! वह चित्रकार!"

"कहाँ बताऊँ बेटी! कुछ पता नहीं। कई महीनों से मैं उनकी प्रतीक्षा में बैठी हूँ यहाँ।"

"मैं तो यहीं समझती थी उन्हें। तुमने कहा क्यों नहीं मुझसे? लो, एक व्यक्ति और खो गया! फिर तुम भी क्यों नहीं खो गई? मैं तुम तीनो व्यक्तियों को एक स्थान पर ढूँढ़ लूँगी न। खो जाओ, आज ही, अभी।"

"अब तुम यहीं रहो बेटी! पूर्व की भाँति। मैं नगर में कहीं नौकरी कर लूँगी, और अपनी और तुम्हारी जीविका के

लिये ले आऊँगी कुछ-न-कुछ। तुम्हारा पुत्र सुरक्षित है। मैं माँग लाऊँगी उसे सम्राट् से। उसकी आशा में हम जिएँगे। जब यहाँ तुम अच्छी तरह से रहोगी, तभी तो न?"

"नहीं, इस कारागार में फिर बंदिनी बना देना चाहती हो तुम मुझे? अब तो मैं उड़ने लगी हूँ। जहाँ मनुष्य को रहते हुए भय लगता है, वहाँ मुझे प्रीति है।"

"जंगल में ही तुम भी चलो। यह डर सब दिखावटी है। बड़ा आनंद आता है, इस नीली थाली में भरे हुए मोती जब इधर से उधर चक्कर काटते हैं। रात को अनेकों जानवर चमकती हुई आँखें लेकर इधर से उधर घूमते हैं। जो डरता है, उसी को हानि पहुँचाते हैं वे। बच्चे को भी वहीं ले चलेंगे।"

महाराजिन ने उसे खाना खिलाया। वह कुछ देर दसवंत की चित्रशाला में बैठी। चित्रों को देखकर कहने लगी—"एक दिन ऐसी ही चित्रशाला मेरी भी थी। मैं भी चित्र बनाती थी। अब मैं ही चित्र बन गई हूँ, पर बनानेवाला कौन है, नहीं जानती।"

फिर उसका जी उचट गया। एक न मानी उसने महाराजिन की।

"अच्छा, कभी-कभी तो आओगी।" कहकर महाराजिन ने उससे बिनती की।

"देखो, अभी मुझे सबसे पहला काम अपने बच्चे को

छुड़ाना है उस बंदी-गृह से, फिर जैसा वह कहेगा। तुम उस चित्रकार को ही बुला लाओ न, अकेले डर लगता है, तो।" कहकर जाने लगी रागिनी।

महाराजिन ने उसका हाथ पकड़ लिया—"ठहरो, तुम्हारे कपड़े बदल देती हूँ। यहाँ रक्खे हैं। चीर-चीरकर क्यों चिथड़े कर देती हो?"

"ऐसे और भी अच्छे दिखाई देते हैं, तुम क्या जानो!" कहा उसने हाथ छुड़ाते हुए—"चीथड़ों में, मटमैले रंग में रहने से जगत् की तीखी आँखें नहीं ताकतीं। जो फूल उज्ज्वल रंगों में चमकता है, उसी पर कीड़े-मकोड़े टूट पड़ते हैं।" वह भाग गई।

सम्राट् को दसवंत का अभाव खटकने लगा। धार्मिक विचारों से वह सहमत न था सम्राट् के, पर कला के विचारों में पूरा साम्य था। सम्राट् उसे निर्दोष और फक्कड़ प्रकृति का समझते थे। उन्होंने उसकी खोज की। वह समझते थे, मैंने उसे कुछ बुरा-भला कह दिया, इसी से वह घर और नौकरी पर लात मारकर चल दिया।

हीरा कहाँ से आ गई एकाएक? कहाँ थी वह इतने वर्षों तक? इसका भी कुछ पता नहीं चला। हीरा पगली थी, उसकी किसी बात का कुछ भरोसा न था, और महाराजिन दसवंत के रहस्य की रक्षा पूरी शक्ति से अभी तक कर रही थी।

उस दिन सम्राट् ने महाराजिन को राजमहल में उपस्थित होने के लिये एक सिपाही भेजा।

महाराजिन काँपते हुए अकबर के सामने उपस्थित हुई।

"तुम चित्रकार दसवंत के यहाँ कार्य करती थीं ?"

"हाँ महाराज !" कंपित वाणी में उसने कहा।

"कहाँ चले गए वह ? डरो नहीं सच-सच कहो।" अकबर ने उसे धीरज देते हुए कहा।

"मुझे कुछ नहीं मालूम महाराज !"

"लोग कहते हैं, वह पागल हो गए हैं। तुम जानती हो, क्यों ?"

"नहीं महाराज ! मैंने उन्हें ठीक ही देखा था।"

"तुम कब तक उनकी बाट देखोगी ?"

"उनका सामान है, उसकी रक्षा कर रही हूँ।"

"कब तक ? मकान का किराया कहाँ से दोगी ?"

"मेहनत-मजूरी कर कहीं से ले आऊँगी।"

"दसवंत पागल हो गए हैं, इसका सही समाचार है मेरे पास। यदि वह न लौटे, तो ?"

"उनके लड़के को सौंप जाऊँगी।"

"उनका लड़का ? किसका, चित्रकार दसवंत का ?" सम्राट् ने चकित होकर पूछा।

महाराजिन के मुख से निकल पड़ा था। फिर उसने सोचा, एक दिन प्रकट होगी ही यह बात। सच-सच कह दिया उसने—"हाँ, महाराज !"

"उनके स्त्री थी ?"

"हाँ महाराज ! यह जो पगली राजधानी में फिर रही है, वह ।"

"हीरा ?" फिर आश्चर्य में पड़े सम्राट् ।

"हाँ महाराज ! रागिनी नाम से जानती हूँ मैं उन्हें। सुनती हूँ, वह आपके महल में गायिका थी ।"

"कहाँ है वह लड़का ?"

"आपके शिशु-गृह में ।"

"मेरे शिशु-गृह में ?"

"हाँ महाराज ! मैं नहीं जानती; क्यों ? जब रागिनी के लड़का हुआ था, वह बेहोश हो गई थी, और दसवंतजी ने उस लड़के को एक अशर्फ़ी की थैली के साथ ले जाकर सड़क पर न-जाने कहाँ रख दिया ।"

"दसवंत का लड़का था ? वह मुझे मिला था सड़क पर । तुमने सच-सच कहकर बहुत दिनों का मेरा संशय मिटा दिया ।"

"रागिनी उसी रात से पागल हो गई महाराज !"

"वह दसवंत ! उन्हें क्या आवश्यकता थी मुझे इस प्रकार धोके में रख देने की । वह कहते मुझसे, मैं हीरा को उन्हें दे देता । मूर्ख चित्रकार ! उसके पतन का कारण हुई हीरा । अच्छा, जाओ तुम । दसवंत का लड़का मेरी रक्षा में है । तुम उसके पिता की धरोहर की चौकसी करो । तुम्हारे भरण-

पोषण और मकान के किराए को राज्य से धन मिलेगा। शिशु-गृह से बाहर आने पर तुम दसवंत की धरोहर उसके पुत्र को सौंपकर मुक्त-भार हो सकोगी।"

सम्राट् की कृतज्ञता को प्रकट कर महाराजिन लौट गई। सम्राट् ने हीरा की समस्त कथा महारानी जोधबाई से जाकर कही।

शीघ्र ही मथुरा से सम्राट् के पास समाचार आया कि दसवंत पागल होकर मथुरा और वृंदावन में घूम रहा है। सम्राट् ने उसे पकड़कर सीकरी मँगवाया।

पागल दसवंत सम्राट् के सामने आया। केवल एक मैली और फटी हुई धोती उसके शरीर पर थी। उसके केश बढ़े हुए, अस्त-व्यस्त। शरीर में स्थान-स्थान पर घाव। आँखों में एक जलती हुई पिपासा, और होंठों पर एक उलझी हुई हँसी!

सम्राट् की आँखें भर आईं अपने एक कृपा-पात्र की वैसी हीन दशा देखकर।

आते ही दसवंत ने पूछा—"कौन हैं जी आप?"

सम्राट् हँस पड़े।

सिपाहियों ने उसके हाथ पकड़ रक्खे थे। एक सिपाही ने कहा—"सँभलकर मुँह खोलो। भारत-सम्राट् के सामने खड़े हो तुम।"

"तब ठीक है। मेरा न्याय कर दीजिए महाराज! हीरा के लड़के ने मुझे न-जाने क्या खिला दिया कि मैं पागल हो गया

हूँ। लेकिन लोग कहते हैं, वह लड़का मेरा है। आप ही न्याय कर दीजिए महाराज ! अपराध उसका है या मेरा ?"

"अभागे चित्रकार ! कहा क्यों नहीं तुमने मुझसे। यदि हीरा ने तुम्हारी कल्पना को घेर लिया था, तो मैं तुम्हारे साथ उसका विवाह करा देता।"

"तो अब करा दीजिए महाराज ! आजकल है कहाँ वह ? मेरे हाथ छोड़ दो सिपाही ! भागूँगा नहीं मैं।"

सम्राट् ने कहा—"छोड़ दो।"

दसवंत मुक्त होकर बैठ गया भूमि पर। चुप ही बैठा रह गया कुछ देर तक।

सम्राट् ने वस्त्र मँगाकर उसे पहनाए। एक नया दुशाला दिया ओढ़ने को।

दसवंत प्रसन्न होकर बोला—"मेरे सिवा और किसकी शक्ति थी, जो बंगाल का विद्रोह शांत करता। उसी का उपहार सम्राट् ने मुझे दिया है आज। सम्राट् की जय हो ! भारत के सम्राट् की जय हो ! भारत की भिन्न-भिन्न जातियों में एकता के सूत्रधार की जय हो !"

सम्राट् बड़े गहरे विचार में उस पागल चित्रकार की प्रत्येक बात और चेष्टा का अध्ययन कर रहे थे।

पागल फिर बोला—"मुझे सूर्योपासना आप सिखा दीजिए महाराज ! यदि मैं सूर्य का उपासक होता, तो आज मेरी यह दशा न होती।"

"क्यों ?"

"सूर्य का उपासक सब कुछ प्रकट रखकर करता है, उसी के प्रकाश में।"

"पागल ! तूने यह एक नई व्याख्या की।"

"हाँ महाराज ! मैंने उसे असूर्यंपश्या बना दिया, और अंधकार का उपासक हो गया ! फिर क्या दंड सोचा है आपने मेरे लिये ?"

"प्रकृति दे चुकी दसवंत !"

"तो मुझे आज्ञा तो दीजिए महाराज ! मैं जाऊँगा। फिर आकर सब अधूरे चित्र पूरे कर जाऊँगा किसी दिन।"

"क्यों, कहाँ जाओगे ?"

"ईरानी सौदागरों के मुहल्ले में मेरा घर है महाराज, और आपके राजकोष में मेरा ६ महीने का वेतन। आपने प्रगिनी के साथ मेरा विवाह कर दिया है। अब तो मैं पूरा गृहस्थ हो गया हूँ।" दसवंत उठने लगा।

सिपाहियों ने उसके हाथ पकड़ लिए।

"छोड़ दो। यह मेरी क्षमा का पात्र है। इसे जाने दो। घर तक पहुँचा आओ।"

सुंदर वस्त्रों में सुसज्जित दसवंत को आया देखकर महाराजिन की प्रसन्नता असीम हो उठी। पर दसवंत के पहले ही वाक्य ने उसकी नींद तोड़ दी।

"क्यों, हो गया विवाह तुम्हारा ?"

"फूटे भाग्य ! क्या हो गया आपको। कौन हूँ मैं ?"

"कौन हो ?" कहकर, माथा पकड़ कुछ याद-सी करने लगा दसतवं।

"कौन हूँ ! तुम्हारी महाराजिन और कौन ?"

"फिर इतनी जल्दी क्यों बूढ़ी हो गईं तुम ?"

"हे भगवान् ! ये कैसी बातें कर रहे हो ?"

"अकेली ही रहती हो इतने बड़े घर में ? या कोई है साथ में ? डर लगता होगा।"

"अब आप आ गए हैं, कैसा डर ?"

"मेरा कोई ठिकाना नहीं। एक पथिक समझो मुझे। मेरी कोई जान-पहचान थोड़े है तुमसे। मुझे जाना है एक जगह बहुत आवश्यक।"

"मैं खाना बनाती हूँ।"

"अच्छी बात है। आटे को बनाना भाजी और भाजी को रोटी बनाना। बड़ी स्वादु लगती है।"

महाराजिन ने मन में कहा—"अब इन्हें भी कौन बंदी कर सकता है।" फिर भी उसने बाहर जाने के बंद द्वार में ताला लगा दिया।

"क्या किया तुमने ? यहाँ एक चित्रकार रहता था पहले। उसकी चित्रशाला भी थी यहाँ।"

"तुम्हीं तो हो वह चित्रकार।" महाराजिन ने दसवंत को

चित्रशाला में पहुँचा दिया—"लो, यह है तुम्हारी चित्रशाला, मैं भोजन बनाती हूँ।"

दसवंत एक-एक चित्र निकालकर देखने लगा। कोई अति-रञ्जित थे, अधिकांश अधूरे प्रयास।

भोजन तैयार कर जब महाराजिन वहाँ आई, तो उसने देखा, तमाम चित्रों और पुस्तकों का बिछौना बनाकर दसवंत उसके ऊपर गहरी नींद में सो रहा है,. दुशाला ओढ़कर।

दसवंत जागा। संध्या के दीपक जल चुके थे। बड़ी मुश्किल से उसने दो-चार ग्रास खाए। वह उठा, जाने को तैयार हुआ। उसने वह सम्राट् का दिया हुआ दुशाला महाराजिन के सामने फेक दिया—"लो, यह तुम्हारे लिये लाया हूँ काश्मीर से। ताला खोल दो अब, मेरे जाने का हो गया समय।"

विवश होकर महाराजिन को ताला खोलना पड़ा। बड़े द्रुत पगों से दसवंत उस निशा की कालिमा को चीरता हुआ बढ़ गया।

टकसाल के पास आया। प्रायः चार साल पहले जहाँ उसने उस बच्चे को रक्खा था, वहाँ ढूँढ़ने लगा—"नहीं है, अभी तो रक्खा था यहाँ! अभी-अभी कौन उठा ले गया। सम्राट् ?...हाँ, इतना तीव्र-दृष्टि और कौन है यहाँ। शिशु-गृह में ले गए हैं। सीकरी के संत के मृत शिशु

के लिये उन्होंने अलग समाधि बनाई है, और मेरे बेटे के लिये अलग।"

वह शिशु-गृह की ओर चला।

रागिनी को शिशु-गृह की दिशा ने ही आकृष्ट कर रक्खा था, दसवंत की कल्पना भी उधर ही खिंची।

प्रायः हर रात को आकर एक परिक्रमा कर जाती रागिनी शिशु-गृह की। शिशु-गृह के रक्षक अब उसे पहचान गए थे। कोई कुछ न कहता उससे। उसके भीतर जाने की अब उतनी कोशिश भी न करती वह।

फ़ैज़ी से परिचय था उसका राजभवन से ही। फ़ैज़ी से दो बातें अवश्य कर जाती वह। अब फ़ैज़ी उसे कृपा-दृष्टि से देखता।

उस दिन भी शिशु-गृह में फ़ैज़ी के निवास के निकट खड़े होकर पुकारा रागिनी ने—फ़ैज़ी!"

"आ पहुँचीं तुम, कुछ जल्दी ही आज?"

"क्या कर रहा है मेरा भैरव!"

"सो गया।"

"मुझे याद नहीं किया आज?"

"किया।"

"कब करोगे मुक्त उसे?"

"अब बहुत शीघ्र। खाना खा चुकी?"

"हाँ।"

"कहाँ ?"

"महारानी जोधबाई के महल में। क्या कर रहे हो ?"

"बैठा हूँ।"

"राजकोष परिश्रम करनेवालों के लिये है। आज का वेतन नहीं मिलेगा तुम्हें।"

"जैसी इच्छा हो तुम्हारी।"

"अच्छा, सो जाओ अब।" कहकर रागिनी शिशु-गृह की परिक्रमा करने लगी। अचानक पीछे से आकर किसी ने उसका हाथ पकड़ लिया।

रागिनी बोली—"कौन ?"

वह बोला—"और भी धीरे-धीरे बोलो। क्या ढूँढ़ रही हो ?"

रागिनी ने धीरे-धीरे कहा—"अपने लाल को। इन वज्र-हृदयों ने उसे यहाँ बंदी कर रक्खा है बरसों से।"

"मेरा लाल भी यहीं है। मैं भी उसे ढूँढ़ने आया हूँ।"

"दसवंत हो तुम ?"

"हाँ।"

"सच्चे मन से ढूँढ़ना चाहते हो उसे ?"

"हाँ।"

"तो चलो चुपचाप, मेरे पीछे हो लो। मैं द्वार बता दूँगी तुम्हें इस शिशु-गृह का।"

रागिनी दसवंत का हाथ पकड़कर ले चली उस कृत्रिम ताल के निकट।

"कहाँ है द्वार ?"

"यह ताल का बाँध दसवंत ! इसके पत्थर गिराकर तोड़ देंगे हम कुछ ही देर में। पानी का प्रवाह शिशु-गृह की ओर है—वह खुल जायगा।"

"सम्राट् फाँसी पर लटका देंगे।"

"जाओ तुम फिर अपने रास्ते। मैं अकेली ही कर लूँगी, लेकिन ये पत्थर भारी हैं।" रागिनी बाँध तोड़ने लगी।

दसवंत चुपचाप खड़ा था।

रागिनी ने पुकारा—"दसवंत !"

"हाँ।"

"गए नहीं ?"

"नहीं।"

"क्यों ? दसवंत !"

"मैं तो रागिनी हूँ, दसवंत कहाँ हूँ। दसवंत तो मर गया।"

"तुम रागिनी हो ? मैं भी रागिनी ! दो रागिनियाँ क्या न कर देंगी ! तुम अवश्य रागिनी हो मेरी वेदना की छाया, मेरे रुदन की प्रतिध्वनि ! आओ तब इधर।"

दसवंत रागिनी के निकट जाकर खड़ा हो गया।

रागिनी बोली—"सुनो रागिनी, आज ही मेरा प्रेम परिपूर्णता को प्राप्त हुआ है। देखो, इस सात मील के घेरे के ताल में यह अनंत आकाश अपनी असंख्य तारिकाओं के

साथ समाया हुआ है। ये सब हमारी सहायता को तैयार हैं। इस बाँध के ऊपर के भारी पत्थर खिसका देने पर फिर हमारा काम हलका पड़ जायगा।"

दोनों पत्थर खिसकाने लगे उस शून्य और अँधेरी रात में। उन्हें परिश्रम करते-करते आधी रात बीत गई।

और भी एक पहर बीत गया। उनका परिश्रम अनवरत जारी था।

अचानक बाँध टूट गया!

रागिनी ने कहा—"सावधान!"

भयानक वेग से पानी का प्रवाह बह चला शिशु-गृह की ओर। राज्य के दक्ष स्थापत्य के विशारदों की कल्पना में जो बात नहीं आई थी, वह पगली ने सोच ली। उसका अनुमान सच निकला!

जल का प्रवाह भयानक रूप से भरने लगा शिशु-गृह में। धाइयाँ चिल्लाईं। प्रहरी घबरा उठे। फ़ैज़ी की नींद टूटी। जल्दी-जल्दी तमाम शिशु धाइयों और प्रहरियों ने मिलकर पहुँचा दिए ऊपर की मंज़िल में, फ़ैज़ी के कमरे में।

एक प्रहरी तैरकर सम्राट् को यह समाचार देने गया। सहायता लेकर सम्राट् स्वयं आ पहुँचे मशालों के उजाले में।

ताल के किनारे से नावें लाई गईं। शिशु-गृह के गिर जाने का भय होने लगा था। पर उसमें के सब प्राणी बचा लिए

गए। बीसों शिशु फिर सम्राट् की चित्रशाला में रख दिए गए।

बाँध के टूटने का प्रकृत कारण कोई नहीं समझा। सबने उसे एक प्राकृतिक घटना समझी। सम्राट् ने शिशु-गृह के खुलने की वह भगवान् द्वारा नियत घड़ी समझी।

एकाएक आँखों के आगे का परदा खुला उन बंदी शिशुओं का। वे नगर की चहल-पहल और हज़ारों मनुष्यों की भीड़ देखकर चिल्लाने लगे अजीब-अजीब शब्दों में।

प्रभात हो गया। सारा नगर जाग पड़ा इस घटना से। असंख्य नर-नारियों का झुंड उन बालकों के मार्ग के दोनो ओर खड़ा हो गया था। उन शिशुओं को जब सबने जानवरों की-सी चेष्टा और चीख़ मारते हुए सुना, तो सब कहने लगे—"अरे, ये तो गूँगे हैं!"

कोई कहता—"सम्राट् के क्या हाथ आया, इतने मनुष्य पशु बना दिए!"

चित्रशाला में शिशुओं के आ जाने पर सम्राट् ने कहा—"फ़ैज़ी!"

"हाँ महाराज!"

"वे कॉपियाँ कहाँ हैं, जिनमें तुमने इस मानवी भाषा के अध्ययन की टिप्पणियाँ लिखी हैं?"

"इन शिशुओं ने सब फाड़-फाड़कर फेंक दीं महाराज, खिड़की के मार्ग से बाहर जल के प्रवाह में।"

"तुमने मना नहीं किया इन्हें ?"

"महाराज ने इन्हें किसी बात के लिये मना करने की आज्ञा नहीं दे रक्खी थी।"

महाराज हँसने लगे—"सारी प्रजा कह रही है, ये गूँगे हैं। हमारे पास कोई तर्क और कोई युक्ति नहीं, जिससे हम इन्हें मानवी भाषा के प्रवर्तक मान सकें ?"

"नहीं महाराज !"

"सम्राट् ने दूर पर देखा, शेख सलीम चिश्ती के शिशु की समाधि सूर्य की किरणों में चमक रही थी। उन्होंने कहा—"तब यह प्रयोग निष्फल रहा !"

"नहीं महाराज ! वे शृंखलाएँ जारी ही हैं। एक दिन का अधूरा काम दूसरे दिन पूरा होता है, और एक जन्म का दूसरे जन्म में।"

"तब मैं पुनर्जन्म में विश्वास करूँगा कवि ! मैं फिर जन्म लेने के लिये मरूँगा। यदि इस जन्म में भारत की एकता न साध सकूँगा, तो फिर यहीं उत्पन्न होऊँगा। वह श्रीमान् का भवन हो या किसान की झोपड़ी। यही मेरी साधना का महामंत्र होगा—"अभिन्न भारत ! अभिन्न भारत !"

❀ ❀ ❀

शिशु-गृह के तमाम बालकों के तावीजों में के अनुसार वे सब उनके घरों को भेज दिए गए। रागिनी को मिला। वह उसे लेकर महारा

दसवंत के घर में रहने लगी, और धीरे-धीरे उसका पागलपन ठीक हो गया।

दसवंत उस रात से ही फिर नगर में नहीं दिखाई दिया दो वर्ष तक। दो वर्ष के बाद एक दिन वह लौटकर आया सम्राट् के पास। उसने उनसे राजमहल के अधूरे चित्रों को पूर्ण करने की अनुमति माँगी। उसे दी गई। दसवंत महल की छत पर चढ़ गया, और उसने बहुत ऊँचे पर से कूदकर आत्महत्या कर ली। इतिहास साक्षी है इस आत्मघात का।